विवेक ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म.प्र.)
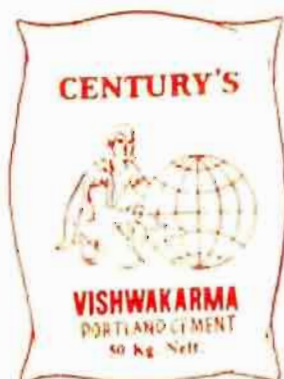
श्रीरामकृष्ण - विवेकानन्द - भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जुलाई—अगस्त—सितम्बर

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी श्रीकरानन्द

वार्षिक ८)

एक प्रति २।।)

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए)—१००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर—४९२००१ (म.प्र.)

दूरभाष : २४५८९

अनुक्रमणिका

कवर-चित्र परिचय : **स्वामी विवेकानन्द**

मुद्रणस्थल : नईदुनिया प्रिंटरी, इन्दौर-४५२००९ (म.प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २३] जुलाई-अगस्त-सितम्बर ★ १९८५ ★ [अंक ३

पुण्यकर्मा बनो

वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये महार्णवे पर्वतमस्तके वा ।
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि ।।

—वन में, रण में, शत्रुओं के बीच, जल एवं अग्नि में, समुद्र में अथवा पर्वत के शिखर पर, सोते हुए, असावधानता में अथवा विषम अवस्था में पुरुष की रक्षा उसके पूर्वजन्म के पुण्य ही किया करते हैं ।

—भर्तृहरिकृत 'नीतिशतकम्', ९८

अग्नि - मंत्र

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

सैन फ्रांसिस्को,
१२ मार्च, १९००

अभिन्नहृदय,

तुम्हारा एक पत्र पहले मिल चुका है। कल मुझे शरत् का एक पत्र प्राप्त हुआ। श्रीरामकृष्ण-जन्मोत्सव के निमन्त्रण-पत्र को देखा। शरत् की वात-व्याधि की बात सुनकर मुझे भय हुआ। दो वर्ष से केवल रोग, शोक, यातनाएँ ही साथी बनी हुई हैं। शरत् से कहना कि मैं अब अधिक परिश्रम नहीं कर रहा हूँ, किन्तु पेट भरने लायक परिश्रम किये बिना तो भूखा मर जाना पड़ेगा।...चहारदीवारी की आवश्यक व्यवस्था अब तक दुर्गाप्रसन्न ने कर दी होगी... चहारदीवारी खड़ी करने में तो कोई झंझट नहीं है। वहाँ पर एक छोटासा मकान बनवाकर वृद्धा नानी तथा माता की कुछ दिन सेवा करने का मेरा विचार है। दुष्कर्म किसी का पीछा नहीं छोड़ता, 'माँ' भी किसी को सजा दिये बिना नहीं रहती। मैं यह मानता हूँ कि मेरे कर्म में भूल है। तुम लोग सभी साधु तथा महापुरुष हो—'माँ' से यह प्रार्थना करना कि अब यह झंझट मेरे कन्धों पर न रहे। अब मैं कुछ शान्ति चाहता हूँ; कार्य के बोझ को वहन करने की शक्ति अब मुझमें नहीं है। जितने दिन जीवित रहना है, मैं विश्राम और शान्ति चाहता हूँ। जय गुरु! जय गुरु!...

व्याख्यान आदि में कुछ भी नहीं रखा है।

शान्ति ! . . . वास्तव में मैं विश्राम चाहता हूँ। इस रोग का नाम Neurosthenia है—यह एक स्नायु-रोग है। एक बार इस रोग का आक्रमण होने पर कुछ वर्षों के लिए यह स्थायी हो जाता है । किन्तु दो-चार वर्ष तक एकदम विश्राम मिलने पर यह दूर हो जाता है। . . . यह देश इस रोग का घर है। यहीं से यह मेरे कन्धों पर सवार हुआ है। किन्तु यह खतरनाक नहीं है, अपितु दीर्घजीवी बनानेवाला है। मेरे लिए चिन्तित न होना। मैं धीरे-धीरे पहुँच जाऊँगा। गुरुदेव का कार्य अग्रसर नहीं हो रहा है—इतना ही दुःख है। उनका कुछ भी कार्य मुझसे सम्पन्न न हो सका—यही अफसोस है। तुम लोगों को कितनी गालियाँ देता हूँ, बुरा-भला कहता हूँ—मैं महान् नराधम हूँ ! आज उनके जन्मदिवस पर तुम लोग अपनी पद-रज मेरे मस्तक पर दो—मेरे मन की चंचलता दूर हो जायगी। जय गुरु, जय गुरु, जय गुरु, जय गुरु। त्वमेव शरणं मम, त्वमेव शरणं मम (तुम्हीं मेरी शरण हो, तुम्हीं मेरी शरण हो)। अब मेरा मन स्थिर है—यह मैं बतलाना चाहता हूँ। यही मेरी सदा की मानसिक भावना है । इसके अलावा और जो कुछ उपस्थित होता हो, उसे रोग जानना। अब मुझे बिलकुल कार्य न देना। मैं अब कुछ काल तक चुपचाप ध्यान-जपादि करना चाहता हूँ—बस इतना ही। शेष माँ जाने; जय जगदम्बे !

—विवेकानन्द

श्रीरामकृष्णवचनामृत-प्रसंग

दसवाँ प्रवचन

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन के एक उपाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुड़गाछी, कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत-प्रसंग' (प्रथम भाग) के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। —स.)

नाम में विश्वास

केशव तथा अन्यान्य ब्राह्म भक्तों के साथ ठाकुर का अविराम ईश्वर-प्रसंग चल रहा है। ठाकुर कहते हैं, "मन से ही बद्ध है, मन से ही मुक्त।" यदि मनुष्य मन ही मन दृढ़ संकल्प कर कह सके कि वह मुक्त है, तो वह सचमुच ही मुक्त हो जाता है। और ऐसा न कर यदि वह लगातार सोचता रहे कि म पापी हूँ, मैं बद्ध हूँ, तो वह बद्ध ही हो जाता है। ठाकुर कहते हैं कि ईश्वर के नाम में ऐसा विश्वास होना चाहिए—'अरे, मैंने उनका नाम लिया है, फिर मेरा पाप क्या?' यह कहकर ठाकुर ने निष्ठावान् ब्राह्मण कृष्णकिशोर की बात बतायी। कृष्णकिशोर का ऐसा विश्वास था कि समाज में अपवित्र और अछूत माना जानेवाले मोची से बोले, "तू शिव बोल"; और शिव कहने के साथ ही उन्हें

विश्वास हो गया कि वह शुद्ध हो गया और उसके हाथ से उन्होंने पानी पी लिया। ठाकुर कह रहे हैं, "उनके नाम में विश्वास करो और कहो कि जो गलत काम मैंने किया है, वह अब नहीं करूँगा"—ये दोनों बातें एक साथ होनी चाहिए। यदि उनके चरणों में शरणागत होकर श्रद्धा के साथ उनका नाम लिया जाय, तो वे सब पापों से उद्धार कर देते हैं। लेकिन साथ-साथ यह भी समझ लेना होगा कि जो उन पर निर्भर रहता है, उनका शरणागत है, वह कुमार्ग में फिर नहीं जाता। यदि कोई गलत रास्ते पर चलता दिखाई देता है और कहता है कि 'मैंने उनका नाम लिया है, मैं शुद्ध हूँ, मुक्त हूँ, तो इससे यह समझना होगा कि उसने ठीक-ठीक नाम नहीं लिया और नाम में उसकी श्रद्धा नहीं है, इसीलिए न तो वह शुद्ध है, न मुक्त। उसके आचरण के द्वारा ही उसका स्वरूप प्रकट हो जायगा।

भगवदाश्रय

भागवत में कहा है कि जो उनका आश्रय लेता है, उसका कभी भी पदस्खलन नहीं होता। ठाकुर इसी को कहते थे—'पैर बेताल नहीं पड़ते।'

"यमाश्रित्य नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित् ॥
धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलन्न पतेदिह ॥"

कह रहे हैं कि भगवान् का या उनके प्रति शुद्धा भक्ति का अवलम्बन कर मनुष्य जब शुद्ध और पवित्र हो जाता है, तब उस आश्रय का स्वभाव ही ऐसा है कि वह मनुष्य पुनः प्रमादग्रस्त नहीं होता; 'न प्रमाद्येत कर्हिचित्'—वह कभी भी भूल

नहीं करता। 'धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलन्न पतेदिह'—यदि वह आँख मूँदकर भी दौड़ता है तो भी उसके पैर नहीं फिसलते। ठाकुर कह रहे हैं--जो बालक पिता की गोद में बैठा हुआ है, वह मजे से ताली बजाते हुए जा सकता है। उसके गिरने का कोई भय नहीं रहता। लेकिन जो बालक पिता का हाथ पकड़कर चलता है, वह अचानक कुछ देखकर अन्यमनस्क हो, यदि ताली बजाने की चेष्टा करेगा तो पिता का हाथ छूट जाने से गिर सकता है। इसलिए यदि यह दिखे कि किसी भक्त का बार-बार पदस्खलन हो रहा है तो यह समझना होगा कि उसकी भक्ति आन्तरिक नहीं है। यदि उसकी भक्ति आन्तरिक होती तो भगवान् स्वयं उसके रक्षक होते और उसके पैर को बेताल नहीं पड़ने देते।

"तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ।।"

—जो अनन्यभाव से भगवान् के शरणागत होते हैं, भगवान् ही उनका उद्धार करते हैं। भगवान् प्रतिज्ञा करते हुए कहते हैं कि वे उन लोगों का मृत्युसंसाररूप सागर से उद्धार कर देते हैं। वे अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा करते हैं। पर हाँ, शर्त यह है कि यदि उन्हें भार देना हो तो सम्पूर्णरूप से देना होगा, उसमें किसी प्रकार का बँटवारा करने से नहीं चलेगा।

गिरीशबाबू और बकलमा

ठाकुर को बकलमा देकर गिरीशबाबू ने बड़े चैन की साँस ली, सोचा कि अब निश्चिन्त हो

गये। इसके कुछ दिन बाद जब बातों-बातों में गिरीशबाबू बोल उठे कि उनको कहीं एक जगह जाना होगा, तो तुरन्त ठाकुर बोल उठे, "यह क्या जी, तुमने क्या मुझे बकलमा नहीं दिया? फिर तुम 'यह करना होगा, वह करना होगा' क्यों कह रहे हो?" तब गिरीशबाबू ने समझा, सच तो है, जब उनको बकलमा दिया है, तब 'थोड़ा उनका, थोड़ा मेरा' करने से काम नहीं चलेगा। जहाँ पर हमारा अभिमान निहित है, उसे हम करेंगे और जो कठिन है, उसे वे करेंगे—इस प्रकार बंटवारा करने से काम नहीं चलेगा। इसीलिए शास्त्र कहते हैं कि सम्पूर्ण भाव से अनन्यचित्त होकर उनके शरणागत होना पड़ेगा। 'अनन्य' हुए बिना नहीं होगा। यदि हम 'इसे भी थोड़ा सा' 'उसे भी थोड़ा सा' करें, तो समझना होगा कि हमारी किसी पर निष्ठा नहीं है। इसीलिए कहा है—"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते"—अनन्यचित्त होकर यदि उनके शरणागत हुआ जाय तभी वे उसकी सब प्रकार से रक्षा करते हैं। ठाकुर यह बात गिरीश को ठीक से समझा देते हैं कि उनके प्रति अनन्य होना होगा और सम्पूर्ण रूप से उनके ऊपर सब कुछ छोड़ देना होगा। इस सम्बन्ध में बाद में गिरीश कहा करते थे—तब तो मैंने सोचा था कि बकलमा देकर निश्चिन्त हो गया हूँ, लेकिन बाद में प्रत्येक कार्य के पहले, यहाँ तक कि प्रत्येक श्वास-प्रश्वास के पहले, मुझे यह सोचना पड़ता था कि वह कार्य मैं कर रहा हूँ या ठाकुर कर रहे हैं। बकलमा देने का अर्थ इतना गूढ़ है, यह

तब नहीं समझ सका था। ठाकुर भी यह बात बार-बार कहते थे, 'जगदम्बा करा लेती हैं, छोड़ती नहीं।' तभी तो उन्होंने संसार के सामने यह प्रदर्शित करने के लिए कि बात इतनी सरल नहीं है, अपनी प्रिय सन्तानों से कठोर साधना करा ली थी। पर हाँ, यदि कोई उन पर निर्भर करता है, तब तो जो कराने का है, वे स्वयं करा लेते हैं।

इसके पश्चात् ठाकुर कह रहे हैं कि ब्राह्मसमाज पर ईसाई-प्रभाव रहने से उसमें ईसाइयों के समान पाप और पापी पर विशेष जोर दिया जाता है। ठाकुर इसे बिलकुल पसन्द नहीं करते थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने अनेकों बार कहा था कि जो 'नाम' लेते हैं, जप करते हैं, वे इतना 'पापी पापी' क्यों करते हैं? इससे तो यही लगता है कि उन्हें नाम पर उतना विश्वास नहीं है। पुराण में एक आख्यायिका आती है कि कोई राजा ब्रह्महत्या करके यह जानने के लिए ऋषि के पास गया कि उसका प्रायश्चित्त किस प्रकार होगा। ऋषि घर पर नहीं थे, ऋषि-पुत्र था। वह बोला, "ब्रह्महत्या करके आये हो, ठीक है, तीन बार 'राम' कहो। अब तुम निष्पाप हो गये।" ऋषि के घर लौटने पर बालक ने उन्हें सारी बात बतायी। सब सुनकर ऋषि बोले, "अरे, तूने यह क्या किया?—

एक 'राम' नाम कोटि ब्रह्म हत्या हरे।
तब तूने तीन बार क्यों कहलाया रे॥"

तभी तो ठाकुर कह रहे हैं कि इतना नाम लेने के बाद भी जो अपने को 'पापी पापी' कहता

रहता है, उससे यही समझना होगा कि नाम पर उसकी श्रद्धा नहीं है।

हमें भगवान् से ऐसा नाता जोड़ना होगा कि हम उनकी सन्तान हैं, उनके अनन्त आध्यात्मिक ऐश्वर्य पर हमारा अधिकार है। उनकी पवित्रता, उनकी शुद्धता, समस्त बन्धनों से उनकी उपरामता—इस सब पर हमारा दावा है—ठाकुर के मतानुसार ऐसा दावा, जिस पर कोई नालिश नहीं चलती। तभी तो ठाकुर गाते थे—

आमि 'दुर्गा' 'दुर्गा' बोले जदि मा मरि।
आखरे ए दीने, ना तारो केमने, जाना जाबे गो शंकरी॥
नाशि गो ब्राह्मण, हत्या करि भ्रूण,
मुरापान आदि बिनाशि नारी।
ए सब पातक, ना भाबि तिलेक, ब्रह्मपद निते पारि॥

(भावार्थ)

'दुर्गा' 'दुर्गा' कहते कहते यदि माँ निकलें मेरे प्राण।
देखूँ भला शंकरी कैसे ना करती तू मेरा त्राण॥
अगर करूँ गो-द्विज-नारी-वध, भ्रूणघात औ' मदिरापान।
फिर भी तनिक न भय पातक का, ले सकता हूँ पदनिर्वाण॥

हममें ऐसा विश्वास चाहिए कि यदि मैं उनका नाम लेता हूँ तो उद्धार मेरी मुट्ठी में रखा है। पर यदि नाम लेकर भी हम चिन्ता करें तो समझना होगा कि उनके नाम में हमारा न तो वैसा विश्वास है, न भक्ति ही।

शुद्धाभक्ति

ठाकुर ने माँ से ऐसी शुद्धाभक्ति की, अहैतुकी भक्ति की याचना की थी, जिसका प्रयोजन न तो

किसी साधना की दृष्टि से था, न किसी विशेष उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए, यहाँ तक कि मुक्ति के लिए भी नहीं। यदि किसी में ऐसी भक्ति हो तो उसे संसार की किसी वस्तु के लिए प्रार्थना नहीं करनी पड़ती। भगवान् को साधारणतया हम लोग एक उपाय के रूप में ग्रहण करते हैं, कहते हैं—"भगवन्, मैं विपत्ति में पड़ा हूँ, मेरा उद्धार करो। मुझे यह दिला दो, वह दिला दो इत्यादि।" लेकिन शुद्धा-भक्ति इससे ठीक विपरीत है। उसमें एकमात्र उन्हें छोड़ और कोई काम्य नहीं होता। उसमें तो भक्त यही कहता है—"मैं और कुछ नहीं चाहता, भगवन्, एकमात्र तुम्हें ही चाहता हूँ, तुमसे प्रेम करना चाहता हूँ—ऐसा प्रेम जो निष्काम होगा, जिसका कोई कारण न होगा।" तभी तो ठाकुर ने माँ के चरणों में शुचि-अशुचि, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म सब कुछ निवेदित कर दिया था, और माँगी थी केवल शुद्धाभक्ति।

प्रसाद ने कहा था—'यह संसार धोखे की टट्टी है।' पर प्रभु के पादपद्मों में भक्ति होने पर यही संसार 'मौज की कुटिया' बन जाता है। संसार की अनित्यता का विचार कर जब यह संसार मिथ्या, मायिक वस्तु प्रतीत होता है, तब लगता है कि यह संसार 'धोखे की टट्टी' है। किन्तु जब यह सिद्धान्त दृढ़ हो जाता है कि यह संसार उस एक परमेश्वर को छोड़ और कुछ नहीं है, भगवान् को छोड़ और कोई पृथक् सत्ता नहीं है, हम यह जो कुछ भी देख रहे हैं, वह सब ब्रह्मस्वरूप है, तब हम इस संसार में रहकर भी भगवान् की लीला का आस्वादन कर

सकते हैं। और तब यह 'मौज की कुटिया' बन जाता है। तब ऐसी कोई आशंका नहीं रह जाती कि यह संसार मुझे बाँध लेगा, या कि यह मुझे ब्रह्म से दूर ले जायगा।

ठाकुर कह रहे हैं—एक बार मैं आँख मूंदकर ध्यान करते हुए बैठा था, सोचने लगा कि क्या आँख बन्द करने से 'वे' हैं और आँख खुली रखने से 'वे नहीं' हैं? सोचने लगा यह कैसा भाव है कि आँख बन्द करके ही उनका ध्यान करना होगा। वे क्या भीतर-बाहर सर्वत्र विराजमान नहीं हैं? जगत् में क्या ऐसी कोई वस्तु है, जो उनसे रहित हो? गीता में तो भगवान् ने कहा है—"न तदस्ति विना यत् स्यान्मया भूतं चराचरम्"—पृथ्वी में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो मुझसे रहित हो। जगत् के प्रत्येक अणु-परमाणु में वे ओत-प्रोत हैं, एक-एक धूलिकण के भीतर भी वे पूर्णरूप से विराजमान हैं—अंशत: नहीं, क्षुद्ररूप में नहीं; क्योंकि जो अखण्ड हैं, अविभाज्य हैं, उन्हें क्या टुकड़े-टुकड़े कर विभक्त किया जा सकता है? जब मनुष्य को ऐसी बौद्धिक धारणा हो जाती है, तब क्या जगत् में ऐसी कोई वस्तु है, जो उसे मोहग्रस्त कर सके? उपनिषद् कहता है कि जब कोई आत्मा को सर्वत्र देखता है, "तत्र को मोह: क: शोक एकत्वमनुपश्यत:"—तब शोक कहाँ है, मोह कहाँ है?

इसके पश्चात् ठाकुर कह रहे हैं—यह बात सत्य है कि राजा जनक एक ही आधार में ज्ञानी तथा कर्मी दोनों थे, वे नित्य सत्य में प्रतिष्ठित थे, फिर

इस संसार में सर्वसाधारण के समान व्यवहार भी करते थे। वे राजा थे, संसारी थे, पर संसार त्यागकर वे वनवासी नहीं हुए, अतः उनके ज्ञान के साथ संसार का कोई विरोध नहीं था। यह कहकर ठाकुर पुनः कह रहे हैं—"लेकिन चट से कोई राजा जनक नहीं बन जाता।"

निर्जनवास और साधना

राजा जनक का उदाहरण देते हुए हम बहुधा कह उठते हैं कि हम राजा जनक के समान संसार भी करेंगे और भगवान् का चिन्तन भी। लेकिन यह जो भगवान् में नित्य प्रतिष्ठित होना है, वह उतना सहज-साध्य नहीं है। उसके लिए बहुत साधना करनी पड़ती है। राजा जनक ने निर्जन में बहुत तपस्या की थी, तब कहीं वे राजा जनक हो सके थे। इसलिए संसार में रहते हुए भी बीच-बीच में निर्जनवास करना होगा। निर्जन में जाकर यदि भगवान् के लिए तीन दिन भी रोया जाय, तो वह भी अच्छा। पर यह ध्यान रखना होगा कि वह केवल निर्जनवास के लिए निर्जन में वास नहीं है। यदि वैसा होता, तब तो निर्जन सेल (cell) में बन्दी सभी कैदी श्रेष्ठ धार्मिक हो जाते। पर ऐसा नहीं है। कारण यह है कि जब तक हम निर्जन में जाकर अपने मन का विश्लेषण नहीं करते, तब तक यह अन्दाज नहीं लगा सकते कि हमें अपने लक्ष्य से भ्रष्ट कर देने की कितनी शक्ति मन के पास है। जो स्रोत के साथ अपने को बहा देता है, वह नहीं जानता कि स्रोत की शक्ति कितनी प्रबल है। जब कोई स्रोत की

विपरीत दिशा में जाने की चेष्टा करता है, तभी वह उसकी शक्ति का परिचय पाता है। अतः जो साधन-भजन करते हैं, वे जानते हैं कि वे जितना ही अपने मन को इष्ट में निविष्ट होने का निर्देश देते हैं, मन उतना ही इष्ट को छोड़ संसार की अन्य सब वस्तुओं के चिन्तन में लगा रहता है। ऐसे मन के साथ इस सर्वदा विक्षेपमय संसार के भीतर रहकर जूझना हमारे लिए सम्भव नहीं है। इसीलिए ठाकुर ने निर्जन में जाकर ईश्वर-चिन्तन करने का उपदेश दिया। निर्जन में क्यों?——इसलिए कि वहाँ चित्त-विक्षेप की सम्भावना कुछ कम रहती है। हम निर्जन में ही मन के स्वरूप से परिचित हो सकते हैं और यह पकड़ ले सकते हैं कि मन हमें कहाँ ले जा रहा है, कितने प्रकार से हमें विभ्रान्त कर रहा है। निर्जन में विक्षेप का कोई कारण नहीं होता, इसलिए भगवान् के साथ हमारा निर्बाध सम्बन्ध हो सकता है। हम अहर्निश इस संसार के कोलाहल के बीच जिस तरह दिन काट रहे हैं, उसमें इस मन का संयम कर उसे भगवान् की ओर स्थिर बनाकर रखना असम्भव हो जाता है। अतः मनुष्य को अवसर की प्रतीक्षा करनी चाहिए, और जब भी ऐसा अवसर मिले, उसे निर्जन में जाकर मन को ईश्वर-चिन्तन में लगाने का अभ्यास करना चाहिए। ऐसा अभ्यास करते-करते तब कहीं भगवान् के प्रति एक आकर्षण, एक स्वाद, एक आनन्द का बोध होता है। इस आनन्द का पार्थिव आनन्द से बहुत पार्थक्य होता है। पार्थिव वस्तु से आनन्द पाना नितान्त

स्वाभाविक है, क्योंकि मन की स्वाभाविक गति ही उस ओर है; किन्तु भगवदानन्द की ओर इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं है, इसीलिए भगवान् की ओर मन को मोड़ने के लिए मन के साथ युद्ध करना पड़ता है, चेष्टा करनी पड़ती है, अभ्यास करना पड़ता है, तब कहीं धीरे-धीरे उस आनन्द का आस्वाद मिल पाता है।

○

स्वामीजी (स्वामी विवेकानन्द) से किसी ने पूछा : 'क्या बुद्ध ने उपदेश दिया था कि नानात्व सत्य है और अहं असत्य है, जबकि सनातनी हिन्दू धर्म एक को सत्य और अनेक (नानात्व) को असत्य मानता है?" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "हाँ, और भगवान् श्रीरामकृष्ण तथा मैंने इसमें जो कुछ जोड़ा है, वह यह है : अनेक और एक एक ही तत्त्व हैं, जो मन द्वारा विभिन्न समय पर और विभिन्न वृत्तियों में अनुभूत होता है।"

श्रीरामकृष्ण-महिमा (१०)

अक्षय कुमार सेन

(लेखक भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के गृही शिष्यों में अन्यतम थे। बँगला भाषा में रचित उनका 'श्रीश्रीरामकृष्ण-पुँथि' काव्य बंगभाषियों द्वारा बड़ा समादृत हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्होंने वार्तालाप के माध्यम से श्रीरामकृष्णदेव की अपूर्व महिमा का बड़ा ही सुन्दर प्रकाशन किया है। हिन्दी पाठकों के लाभार्थ मूल बँगला से रूपान्तरित किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर में कार्यरत हैं। —स०)

(गतांक से आगे)

पाठक—परमहंसदेव की बातें कितनी सुन्दर हैं। जितनी देर उनकी बातें सुनता हूँ, मन में और कुछ भी नहीं रहता। मन मानो उनकी बातों में एकदम डूबा रहता है। इस उम्र में मैंने बहुत प्रकार की बातें सुनी हैं, परन्तु इस प्रकार मन को मुग्ध करनेवाली बात एक भी नहीं। जितना सुनता हूँ, उतना ही और सुनने को मन दौड़ता है, परन्तु हाथ में नगद क्या लाभ होता है, वह कुछ समझ नहीं पाता। फिर जो सब बातें सुनता हूँ, वह भी कहाँ तक समझ पाया हूँ, नहीं जानता।

अब एक बात जानना चाहता हूँ। उन्होंने जीवन-मुक्ति के सम्बन्ध में कहा था, "इस अवस्था में 'मैं' मर जाता है। अथवा यदि थोड़ा बहुत बचा भी रहता है तो वह 'मृत मैं' ही होकर रहता है।" यह कैसी बात है, जरा कहिए तो।

भक्त—यह मन के प्रसंग में कही गयी बात से भी कठिन है। ठाकुर की कृपा से जो कुछ देख पाया हूँ, कहता हूँ, सुनो।

बचपन से मनुष्य यह जो 'मैं'-'मैं' की रट लगाये हुए है, वह बड़े सर्वनाश की रट है। बच्चों को जू-जू कहकर डराने से वे लोग डर जाते हैं, परन्तु जू-जू नाम की कोई चीज नहीं है। उसी प्रकार मनुष्य 'मैं'-'मैं' कहकर चिल्लाता फिरता है, पर 'मैं' नाम की कोई वस्तु नहीं है। जैसे बड़े होने पर वह समझ जाता है कि जू-जू केवल एक भयवाचक शब्द है, उसी प्रकार मनुष्य ज्ञान होने पर समझ जाता है कि 'मैं' केवल एक अहंकारवाचक शब्द है——जू-जू के समान कल्पित और झूठा।

परमहंसदेव कहते थे, "यह 'मैं' कैसा है जानते हो? जैसे प्याज। प्याज का छिलका हटाते-हटाते जैसे प्याज फिर प्याज नहीं रह जाता, उसी प्रकार शरीर को लेकर विचार करने पर फिर 'मैं' का पता नहीं चलता।"

मनुष्य जो इतने गहरे जल में डूबा हुआ है, सीधे रास्ते को छोड़ गोरखधन्धे में फँसा है, सूखे स्थान में रहते हुए भी अथाह जल में गोते खा रहा है, उसका मूल कारण यही है कि उसने असत्-'मैं' को सत्-'मैं' समझ रखा है। उसे यह ज्ञान होने पर ही कि 'मैं'-पने का ज्ञान पूरा अज्ञान है तथा अविद्या का बन्धन है, उसके समस्त सन्देहों का नाश होता है, उसके धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य के झमेले दूर होते हैं तथा उसके लिए शुचि-अशुचि दोनों समान हो जाते हैं। वह देख पाता है कि उसके गले का हार गले में ही है। उसकी पूजा, जप-तप तथा क्रियाकाण्ड सब समाप्त हो जाते हैं। समस्त विश्व में उसे ईश्वर के

दर्शन होते हैं तथा और भी जो कुछ होता है वह उस अवस्था को प्राप्त हुए बिना कोई जान नहीं पाता।

मैं अमुक का पुत्र हूँ, मैं अमुक हूँ, क्या मुझे जानते नहीं?——जो 'मैं' ये सब बातें करता है, वह यद्यपि मिथ्या नहीं है, तो फिर क्या है जानते हो? वह ईश्वर ही है। यह तत्त्व बुद्धि-विचार के द्वारा स्थिर नहीं किया जा सकता, हजार बार सुनकर भी समझ में नहीं आता। पर जब भगवान् समझा देते हैं, दिखा देते हैं, तब मनुष्य समझ पाता है और 'मैं' से मुक्त होता है। सृष्टि में एक को छोड़ दूसरी वस्तु नहीं है। इस जीव-जगत् में जो कुछ देखते हो सब वे ही हैं। माया के कारण जीव बन्धन में पड़ा 'मैं'-'मैं' करता है। माया का खेल ऐसा मोहनेवाला है कि यह 'मैं' वे ही हैं, इस बात को जानने ही नहीं देता। माया के इस खेल से जीव मोहित है तथा वह मरते दम तक माया के इस खेल को जान नहीं पाता। यह माया दो रूपों में खेल करती है। एक, विद्या-माया के रूप में और दूसरी, अविद्या-माया के रूप में। जो सब जीव अविद्या-माया के राज्य में हैं, वे काम-कांचन में डूबे हुए सब कुछ भूल-भुलाकर बेसुध होकर खेल रहे हैं। वे लोग माया का कोई भी खेल नहीं देख पाते। दिन-रात वे सब एक ही सनक में डूबे हुए हैं। और जो भगवान् की कृपा से विद्या-माया के भीतर हैं, उनको माया अपना खेल दिखाकर खिलाते-खिलाते धाम में पहुँचा देती है। ऐसा जीव करोड़ों में एक होना भी दुर्लभ है। यदि एक भी ऐसा होता है तो वह जग-

न्माता का चहेता बेटा है। पर यह याद रखो कि यह चहेता बेटा भी हँसने-रोने के खेल से अछूता नहीं है। जहाँ तक खेल है, वहाँ तक माया का साम्राज्य है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश से लेकर कीटाणु-कीट सभी माया के चक्र में चक्कर खा रहे हैं। माया का बन्धन कैसा है जानते हो? जैसे रबर का गोल धागा। रबर का धागा जिस वस्तु को बाँधता है, उसके अनुसार अपने को फैला या संकुचित कर लेता है। यदि वस्तु मोटी है तो वह फैल जाता है, और यदि वह पतली और सूक्ष्म है तो उसका आकार भी तदनुरूप छोटा हो जाता है। वस्तु चाहे जितनी भी सूक्ष्म क्यों न हो, उसे बन्धन के बीच ही रहना होगा। इस बन्धन के परे क्या है, वह मैं नहीं जानता तथा उसका कोई आभास भी मुझे नहीं है। कोई चाहे कितना भी चहेता बेटा क्यों न हो, बन्धन के हाथ से उसकी मुक्ति नहीं है। पर ऐसा बन्धन स्तुत्य है तथा देवगण भी इसकी कामना करते हैं, क्योंकि इस बन्धन में सिवाय सुख के दुःख नहीं है। इसमें बँधे व्यक्ति माया का खेल देखते देखते जाते हैं। यहाँ भी भले ही अविद्या के बन्धन की भाँति हृदय का हास्य-रुदन है, परन्तु यह हास्य-रुदन एक दूसरे प्रकार का है। इसका मजा यह है कि यह बेहोश नहीं करता। माया की कृपा से उसका यह खेल देखने की वस्तु है--न तो सुनने की है, न कहने की।

'मैं' की बात चल रही थी। माया इस 'मैं' को जानने नहीं देती तथा 'मैं' भी पूरी तरह जाता नहीं।

जीव को यह सब बताने के लिए रामकृष्णदेव ने बहुत सी साधनाएँ की थीं। वे बीच-बीच में कहते, "नाहं, नाहं तुहुँ तुहुँ" अर्थात् मैं नहीं, मैं नहीं,—तुम तुम। जीव 'मैं' को छोड़ कब 'तुम तुम' करता है इस सम्बन्ध में रामकृष्णदेव द्वारा दी गयी एक उपमा कहता हूँ, सुनो—

गाय एक जानवर है। उसका बछड़ा पैदा होते ही हम्बा-हम्बा कहकर चिल्लाता है। हम्बा-हम्बा याने हम-हम। उसके बड़े होने पर किसान उसे हल अथवा गाड़ी में जोतकर दिन-रात काम लेता है, फिर भी वह 'हम-हम' चिल्लाना नहीं छोड़ता। वह बूढ़ा होता है, शरीर पर केवल हड्डी-चमड़ा बाकी रहता है, उसकी जुताई का अन्त नहीं, फिर भी वह 'हम-हम' की रट लगाये हुए है। फिर वह मर गया, तब उसके चमड़े को निकाल, छील-छालकर, पीट-पाटकर ढोल बनाया गया। वह चमड़ा उस अवस्था में भी बजाने पर 'हम-हम' करता है। उसकी आवाज बन्द नहीं होती। सबसे आखिर में नस, आँत आदि को पकाकर ताँत तैयार किया जाता है। उस अवस्था में भी उसके भीतर 'हम' रहता है। उसके बाद जब धुनिया उसे अपने यन्त्र में लगा, खींचकर बजाता है, उस समय भी धीमे स्वर में 'हम-हम' की आवाज करता है। सब से अन्त में जब धुनिया घुटने के बल बैठ, यन्त्र को पकड़कर दाहिने हाथ से हथौड़ा ले बार-बार उस ताँत के ऊपर जोरों से चोट करता है, तब वह हमेशा के उस 'हम' के चीत्कार को त्याग देता है और 'तुहुँ-

तुहुँ' करता है । जीव को इसी प्रकार मेहनत कराकर नचाकर, मुँह से रक्त निकलवाकर, उठ-बैठ कराकर, धन-जन-सम्पत्ति का नाश कराकर यदि लगातार शोक-सन्ताप से जर्जरित किया जाय, तो वह और 'हम-हम' नहीं करता, तब कहता है--हे भगवान् , तुम्हीं तुम्हीं। जीव की ऐसी दुर्दशा नहीं होने से जो दुष्ट 'मैं' उसके भीतर घुसा रहता है, वह जाता नहीं। यह 'मैं' ही स्वयं माया है।

पाठक---आपने पहले कहा कि 'मैं' नामक जो चीज है, वह 'मैं' नहीं, वह 'वे' ही हैं। फिर इस 'मैं' को आप दुष्ट 'मैं' कहते हैं, तो फिर 'वे' दुष्ट कैसे हुए ?

भक्त---माया का खेल भयंकर है। जब तक ईश्वर-लाभ नहीं होता, तब तक पाप-पुण्य, अच्छा-बुरा, सत्-असत् यह सब द्वन्द्व बना रहता है । ईश्वर-लाभ होने पर फिर बुरा या दुष्ट कहने को कुछ बाकी नहीं रहता । दुष्ट-'मैं' कब तक रहता है जानते हो? जब तक वह पका-'मैं' देखने में नहीं आता, तब तक। उसको देख पाने पर फिर दुष्ट-'मैं' नहीं रह जाता। दुष्टावस्था में 'मैं' अहंकार से भरा रहता है। यह अहंकार ही माया है। इस अहंकार के नष्ट होने पर यह 'मैं' 'तुम' हो जाता है । जब 'मैं' 'तुम' होता है, तब फिर उसका माया-अहंकार नहीं रह जाता। 'मैं' को पहचान सकने पर अहंकार ऐसा भागता है कि तीनों लोकों में ढूंढ़ने पर भी उसका अता-पता नहीं चलता । रामकृष्णदेव बीच बीच में कहते थे--'मैं' को खोजने गया, परन्तु खोजने

पर कहीं भी नहीं पाया। वे एकमेवाद्वितीय सर्वशक्ति-शाली भगवान् माया को साथ ले जीव-जगत् की सृष्टि करके अगणित करोड़ 'मैं' होकर खेल करते हैं। वे एक ही वस्तु अनन्त घटों के भीतर प्रवेश कर अनन्त 'मैं' बने हुए हैं। प्रत्येक घट की हर अवस्था में उनके सिवाय कोई दूसरा नहीं है। यह ज्ञान होने पर दुष्ट-'मैं' फिर नहीं रहता, जो रह जाता है, वह है वे--केवल ईश्वर।

ज्ञानमार्गी जब 'मैं' को पहचान जाते हैं, तब वे 'सोऽहं' कहते हैं तथा भक्तगण 'तुम' अथवा 'व' कहते हैं। ठाकुर रामकृष्ण भीतर में पूर्ण ज्ञानी थे, परन्तु जीव-शिक्षा के लिए वे भक्तिभाव का प्रदर्शन करते थे। ठाकुर की मूर्ति मानो ज्ञानमय है और वह मूर्ति भक्ति की चादर से आवृत है। ठाकुर जानते हैं कि कलियुग में ज्ञानमार्ग पर चलना बड़ा कठिन है और भक्तिपथ सहज है। इसीलिए भक्ति की चादर हमेशा उनके शरीर पर रहती। तात्पर्य यह कि ईश्वर-प्राप्ति के लिए उन्होंने सभी को भक्तिपथ पर चलने का उपदेश दिया।

'मैं' के दर्शन का नाम ही आत्म-दर्शन है। आत्म-दर्शन होने से यह दुष्ट-'मैं' भाग जाता है, वह और नहीं रह पाता। पूर्ण ज्ञान होने से आत्म-दर्शन होता है अथवा आत्म-दर्शन से पूर्ण ज्ञान होता है। पूर्ण ज्ञान होने पर 'मैं' कैसे नहीं रहता जानते हो? जैसे जब तक ठीक दोपहर का समय नहीं होता अर्थात् सूर्य ठीक सिर के ऊपर नहीं आता, तब तक वस्तु की छाया पड़ती है। पर सूरज के सिर के ऊपर

आते ही चारों ओर नजर फेरने पर वह छाया कहीं नेदेख में नहीं आती। ठीक इसी प्रकार ज्ञान-सूर्य पूर्णरूपेण विकसित होते ही यह दुष्ट-'मैं' फिर देखने में नहीं आता। तब ठीक समझ में आ जाता है कि इतने दिनों तक छाया के समान यह दुष्ट-'मैं' ही था। छाया जिस प्रकार छाया होकर भी मिथ्या है, उसी प्रकार 'मैं' भी मिथ्या है। अज्ञा की अवस्था में 'मैं' छाया क रूप में रहता है, पूर्ण ज्ञान होने पर छाया नहीं रहती अर्थात् दुष्ट-'मैं' चला जाता है। तब रहता कौन हैं? केवल 'वे' ही रहते हैं जिन्हें छाया ने पकड़ रखा था। यह दर्शन सब समय बना नहीं रहता। संसार के काम-काज में लगते ही 'मैं' फिर से आ जुटता है। पर अब वह अपनी करय'मात नहीं दिखा पाता।

इस अ ात्म-दर्शन के होने से ही यह देखने में आता है कि एक ही भगवान् लीला में सृष्टि में अनन्त होकर वद्यमान हैं। इस दर्शन को कहते हैं विराट्रूप-दर्शन। तुम याद करो, बहुत पहले मैंने कहा है कि रामकृष्णदेव का एक विराट् रूप है—तो यह है उनका विराट् रूप। जिन रामकृष्णदेव को साढ़े तीन हाथ का देखा है, अब उन्हीं को संसार में प्रत्येक वस्तु में देख पा रहा हूँ। यह संसार रामकृष्णमय है। रामकृष्ण साढ़े तीन हाथ के भी हैं और विराट्रूपी भी। मूर्तिपूजा पर जो दोषा-रोपण करते हैं तथा उसे भ्रम कहकर व्याख्या करते हैं, इस आत्म-दर्शन के होने पर उनका अज्ञान अच्छी तरह देखने में आता है। केशव सेन ने पहले-पहल

ठाकुर की माँ-काली के प्रति श्रद्धा-भक्ति देखकर पूछा था, "महाशय, आपकी काली माता कितनी बड़ी है?" ठाकुर ने उत्तर दिया, "केशव, तुम विलायत गये हो, समुद्र देखा है तो? मेरी काली-माँ उससे भी बड़ी है।" और एक बार केशवबाबू अपने शिष्यों सहित ठाकुर के साथ किसी रास्ते से जा रहे थे। ऐसे समय में कोई व्यक्ति रास्ते के किनारे के किसी वृक्ष की डाल काट रहा था। ठाकुर यह देख असह्य वेदना से जोरों से चीत्कार कर यह कहकर रोने लगे, "अरे, मेरी माँ को काट रहा है!" इसके माध्यम से उन्होंने केशव को दिखाया कि माँ-काली सृष्टिमयी हैं, ब्रह्ममयी हैं। वे केवल साढ़े तीन हाथ की हैं, ऐसी बात नहीं। फिर, माँ-काली साढ़े तीन हाथ की हैं इसकी भी सत्यता उन्होंने इतने प्रकार से दिखलायी कि उसकी कोई सीमा नहीं। उन्होंने माँ-काली की नाक के पास रुई ले जाकर देखा था और दिखाया था कि माँ-काली की साँस चल रही है। एक दिन की घटना सुनो।

ठाकुर अपनी छोटी चौकी पर बैठे हुए थे। पास में बहुत से भक्त भी थे। अचानक ठाकुर पूरब के दरवाजे से निकलकर दौड़ते हुए आँगन में जा पहुँचे। वहाँ से माँ-काली का पूरा मन्दिर देखने में आता था। ठाकुर अत्यन्त भयभीत हो, व्याकुल हृदय से मन्दिर के नवरत्न की ओर ऊर्ध्व दृष्टि करके हाथ उठा चिल्लाकर कहने लगे, "देख माँ, गिर पड़ेगी, गिर पड़ेगी।" यह कहकर ही वे प्रायः बेहोश-से हो गये। भक्तों ने उन्हें सहारा दे उनके कमरे में

पहुँचाया। बाद में कारण पूछने पर ठाकुर ने उत्तर दिया, "माँ शराबी के समान झूमती-झूमती नवरत्न के छज्जे के किनारे-किनारे घूम रही थी। वह गिर न पड़े इसी डर से मुझे ऐसा हो गया था।"

रामकृष्णदेव की लीला सुनकर समझ लो कि साकारवादीगण कितने प्रकार से रसास्वादन करते हैं। वे माँ को साढ़े तीन हाथ का भी देखते हैं और फिर विश्वमयी और ब्रह्ममयी भी देखते हैं। एक ने ठाकुर से पूछा था, "ब्राह्मधर्म और हिन्दू धर्म में क्या भेद है?" ठाकुर ने उत्तर दिया, "शहनाई का बजाना देखा है? शहनाई बजानेवाले दो लोग होते हैं। एक शहनाई से केवल 'पों' शब्द निकालता है और दूसरा उससे राग-रागिनी बजाता है। ब्राह्म लोग केवल 'पों' बजाते हैं, किन्तु साकारवादी राग-रागिनी बजाते हैं।"

राग-रागिनी बजाते हैं इसका तात्पर्य यह है कि साकारवादीगण भगवान् का परमेश्वर, अखिलेश्वर, साकार, निराकार—नाना रूपों में नाना प्रकार से आस्वादन करते हैं। रामकृष्णदेव ने विभिन्न प्रकार की साधनाएँ कर भगवान् का हर प्रकार से आस्वादन किया और कहा, "भगवान् में सब सम्भव है। वे सब हो सकते हैं और सब हुए हैं।" और एक बात उन्होंने बार-बार कही, "भगवान् को कोई सीमाबद्ध न करे। वे ये ही हैं तथा दूसरे नहीं अथवा दूसरे नहीं हो सकते, ऐसी बात जिद करके नहीं कहना। भगवान् के सम्बन्ध में एक विशेष सिद्धान्त का प्रचार करना मानो उस असीम को सीमाबद्ध करना है,

उनकी सर्वशक्तिमत्ता को बाधित करना है।"

यहाँ के व्यावसायिक धर्मोपदेशकों में एक मान्यता बड़ी ही प्रबल है। उनका कहना है कि हम लोगों का यह जो मत है अथवा हम लोग जो कुछ कहते हैं, वही सत्य है, बाकी दूसरे जो करते या बोलते हैं, वह सब भ्रान्त है। ऐसी बुद्धि से युक्त अज्ञानी व्यवसायियों को दण्डवत !

'मैं'-पने के मर जाने से ही मनुष्य मुक्त होता है। भगवान् रामकृष्ण का कथन है, "मुक्त होंगे कब, 'मैं' मरेगा जब।" बद्ध और मुक्त इन दो अवस्थाओं को जनानेवाला कौन है, जानते हो? वह है मन। यदि मन तुमको समझा दे कि तुम बद्ध हो, तो तुम बद्ध हो जाते हो और यदि वह समझा दे कि तुम मुक्त हो, तो तुम मुक्त हो जाते हो। सब मन का खेल है। मन ही इसका इन्द्रियस्वरूप है। जब तक मन बद्ध रहता है, तब तक हमेशा संशययुक्त बना रहता है। इस अवस्था में मन का नाम है संशय, और मुक्तावस्था में उसका नाम है चैतन्य। मन और बुद्धि दो वस्तुएँ हैं, किन्तु शुद्धावस्था में दोनों एक हो जाती हैं और तब उसका नाम होता है—चैतन्य। भगवान् मन और बुद्धि के अगोचर होते हुए भी मन और बुद्धि के गोचर हैं। इसका अर्थ यह कि वे मन की संशययुक्त अवस्था के अगोचर हैं तथा शुद्ध मन, शुद्ध बुद्धि अथवा चैतन्यावस्था के गोचर हैं। शुद्ध मन, शुद्ध बुद्धि अथवा चैतन्य की सहायता से उस चैतन्यमय का साक्षात्कार होता है, जिसके चैतन्य से यह जगत् चैतन्यमय है। और उस स्थिति

में मन-बुद्धि (जो कि खण्ड-चैतन्य है) उस चैतन्य-मय के साथ एक रूप भी हो जा सकता है। एक गीत का कुछ अंश सुनाता हूँ। यह गीत ठाकुर कई बार गाते थे--

मगन हुआ मन-भँवरा मेरा श्यामा के पद-नीलकमल में।...
पद काला भँवरा भी काला, मिलकर दोनों एक हो गये।
इत्यादि।

जब मन श्यामा के पदरूपी नीलकमल में मग्न होता है, तब वह चैतन्य की अवस्था को प्राप्त होता है। अर्थात् उसका नाम तब मन नहीं रह जाता। तब उसका नाम होता है शुद्ध मन अथवा चैतन्य। तब उसके पहले का रंग परिवर्तित हो वह श्यामा के चरणों का रंग धारण करता है। फिर इधर माँ चैतन्यमयी के साथ मन-चैतन्य के एकरूप होने से मानो काले से काला मिल जाता है। इस मिलन से सारी झंझट मिट जाती है। संसार का खेल समाप्त हो जाता है तथा तत्त्व से तत्त्व मिलकर एकरूप हो जाता है।

मन के शुद्ध हो एक बार चैतन्य होते ही चैतन्य-मय उसे पकड़ लेते हैं। इसका अर्थ यह है कि मन के चैतन्य होने से वह चैतन्यमय की ही जाति का हो जाता है। समान जाति का होते ही मिलन अवश्य-म्भावी है। समजाति का नहीं होने से आपस में मिलन नहीं होता। दूध दूध के साथ मिल जाता है, परन्तु घी दूध के साथ नहीं मिल पाता, भले ही वह उसी दूध से बनता है। दूध में घी डालने से वह अलग तैरता रहेगा। किन्तु यदि उसी दूध को घी

बनाया जाय, तो दोनों की भिन्नता दूर होकर एकत्व होगा अर्थात् दोनों मिल जाएँगे। चैतन्यमय के साथ माया के मिलने से ही यह जीव-जगत् हुआ है। यह जीव-जगत् माया से विमुक्त होने से ही चैतन्य हो जाएगा। इस अवस्था में वे बहुरूपी एकरूपी होते हैं। वह किस प्रकार, यह तो केवल वे ही जानते हैं।

वे चैतन्यमय माया की उपाधि को ग्रहण कर जीव-जगत् हुए हैं तथा इस जीव-जगत् में जो अनन्त श्रेणियाँ हैं, वह सब उनके सिवाय भला और क्या है? देखो यह संसार किस प्रकार उस एक का ही खेल है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, आत्मा, जीवात्मा—ये सब विभिन्न नाम उसी एक वस्तु के हैं।

पाठक—आत्मा और जीवात्मा ये दो किस प्रकार हैं?

भक्त—आत्मा और जीवात्मा इन दो को लेकर ही तो सारा खेल है। आत्मा को आत्मा भी कहते हैं और परमात्मा भी। ब्रह्मज्ञानी का ब्रह्म, योगी का आत्मा और भक्त का भगवान्—ये तीनों एक ही वस्तु हैं और एक के ही तीन नाम हैं। जिस प्रकार विराट् अग्नि से अगणित स्फुलिंगों या चिनगारियों की सृष्टि होती है, उसी प्रकार आत्मा अथवा परमात्मा से जीवात्माओं की सृष्टि होती है। एक ही परमात्मा अपनी महाशक्ति माया की सहायता से करोड़ों प्रकार की विभिन्न जातियों, आकृतियों, गुणों तथा वर्णों के जीवात्माओं में परिणत हुए हैं अथवा वे ही उन सबके सृष्टिकर्ता हैं। जीवात्मा परमात्मा में ही

स्थित रहते हैं तथा उनसे ही उत्पन्न और उन्हीं में लीन होते हैं। जीवात्मा किस प्रकार परमात्मा के भीतर हैं, इसे उपमा के सहारे बताता हूँ, सुनो—परमात्मा मानो कूल-किनारे से रहित अपार सागर हैं। इस सागर का न आदि है और न अन्त। इस सागर में जीवात्मा कैसे स्थित हैं, जानते हो? जैसे करोड़ों प्रकार के करोड़ों पात्र इस सागर के जल में डूबे हों। जल से भरा एक-एक पात्र ही मानो एक-एक जीवात्मा है।

जीवात्माओं के बीच जो करोड़ों प्रकार के शरीर, रूप और आधारपात्र हैं, वे भी उसी जल से बने हैं। तुमसे पहले ही कहा है कि सूक्ष्म ही स्थूल हुआ है—जैसे भाप बड़ी सूक्ष्म है। पर इसी भाप से बादल, बादल से पानी के कण, पानी के कणों से पानी की बूँदें, पानी की बूँदों से पानी और फिर पानी से बरफ बनती है। इसी प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म परमात्मा ही स्थूल हो आधारपात्र बने हैं तथा इस आधार के भीतर वे जलरूप परमात्मा ही विद्यमान हैं। जीवात्मा का जन्म भी नहीं है और मृत्यु भी नहीं। वह परमात्मारूपी जल से उत्पन्न होता है, जल में स्थित रहता है और जल में ही विलीन हो जाता है। घट के भीतर जो जलरूप जीवात्मा है, वह जैसे घट के फूटने पर परमात्मारूपी सागर के जल में मिल जाता है, उसी प्रकार वह घट भी स्थूल से सूक्ष्म हो उसी जल में मिल जाता है। मृत्यु किसे कहते हैं, जानते हो? जैसे घट का जल, घट के फूटने पर, समुद्र में मिल जाता है और दूसरे घट में प्रवेश

करता है, उसी का नाम मृत्यु है। सूक्ष्म जैसे स्थूल बनता है, उसी प्रकार स्थूल भी सूक्ष्म होता है—जैसे बरफ के गलने से पानी, पानी से बादल, बादल से भाप, इत्यादि।

मैंने परमात्मा को जो सागर के समान कहा, तो उसे वैसा भी कहा जा सकता है, फिर महाकाश भी कह सकते हैं। वेदों में, सुना है, उसे महाकाश कहा गया है।

"देता है आभास वेद कि तू है घटाकाश,
और मृत्यु कहते हैं घट के नाश को।
खयालों में डूबकर सब शून्य में,
गिनते रहते हैं पाप पुण्य को॥"

जैसे वाष्प की स्थूलावस्था मेघ, जलकण, जल तथा हिम है, उसी प्रकार महाकाश की स्थूलावस्था 'पंचभूत' है। फिर ये पंचभूत पंचीकृत होकर जीव-जगत् हुए हैं। जिस प्रकार सूक्ष्म से स्थूल और स्थूल से सूक्ष्म की अवस्था है, उसी प्रकार नित्य से लीला और लीला से नित्य की अवस्था है। इधर से होकर उधर जा सकते हैं तथा उधर से इधर आ सकते हैं। इसको ही परमहंसदेव अनुलोम-विलोम कहते थे। वे और एक बड़ी सुन्दर बात कहते थे कि जिनका नित्य है, उनकी ही लीला है और जिनकी लीला है, उन्हीं का नित्य है। ठाकुर ने शंकराचार्य की तरह यह नहीं कहा कि जीव-जगत् मिथ्या है। पर उन्होंने शंकर के मत को अस्वीकार भी नहीं किया।

जीवात्मा के सम्बन्ध में रामकृष्णदेव जैसा समझाते और दिखलाते थे, उसे तुम्हें एक दूसरे

प्रकार से बताता हूँ, सुनो। जीवात्मा और कोई नहीं, वह परमात्मा ही है। अन्तर केवल यही है कि परमात्मा में माया नहीं है तथा जीवात्मा में माया है। माया की उपाधि ले परमात्मा ही जीवात्मा हुए हैं। परमात्मा में माया रहकर भी नहीं है—उनकी माया उनके लिए माया नहीं। माया उनको भुला नहीं सकती। माया का उन पर ठीक उसी प्रकार असर नहीं होता, जैसे साँप के मुँह में विष है पर उस विष से साँप को कोई नुकसान नहीं होता। माया परमात्मा में रहती हुई भी उन्हें प्रभावित नहीं कर पाती। पर वह जीवात्मा को मोहित कर देती है। परमात्मा में निर्लिप्तता है, जबकि जीवात्मा में लिप्तभाव। परमात्मा साक्षीस्वरूप हैं तथा जीवात्मा फल का भोक्ता। जीवात्मा, सुख-दुःख, पुण्य-पाप, अच्छा-बुरा सबका भोग करता है, पर ये द्वन्द्व परमात्मा के पास नहीं फटक सकते। यह कैसे, जानते हो?—जैसे यदि दीवाल पर धुआँ लगे तो वह दीवाल पर दाग छोड़ जाता है, पर वह धुआँ आकाश पर कोई कालिमा नहीं लगा पाता। जो मायामुक्त परमात्मा शिव हैं, वे ही मायायुक्त जीवात्मा जीव हैं। यह जीवात्मा माया को त्यागने से ही अपने स्वरूप को प्राप्त होता है, अर्थात् शिवत्व की उपलब्धि करता है। जीव शिव होकर जन्म-मृत्यु के भय से विमुक्त होता है।

पाठक—परमात्मा साक्षीस्वरूप हैं तथा जीवात्मा फल का भोक्ता—यह कैसी बात है?

भक्त—ठाकुर रामकृष्ण के मुखारविन्द से इस विषय में जैसा सुना है, वही कहता हूँ, सुनो। एक

दिन ठाकुर ने कहा, "अपने साधन-भजन के समय मैं एक दिन पंचवटी के नीचे बैठा हुआ था कि अचानक मेरी दृष्टि वृक्ष की ओर गयी। मैं देखता हूँ कि वृक्ष की एक शाखा पर दो पक्षी बैठे हैं। एक पक्षी धीर-स्थिर बैठा है, जरा भी हिलता-डुलता नहीं, ठीक जैसे मानो कागज का पक्षी हो। और दूसरा इसके ठीक विपरीत स्वभाव का है। वह कभी गिरता है, कभी कूदता है, कभी खेलता है तो कभी चहचहाता है। थोड़ी देर बाद जो पक्षी स्थिर भाव में है, उसने अपना मुँह खोला और दूसरा चंचल पक्षी उसके मुँह में जा घुसा। जैसे ही वह उसके मुँह में घुसा कि स्थिर पक्षी ने अपना मुँह बन्द कर लिया।" ठाकुर ने वह देखकर यह समझा कि परमात्मा स्थिर, साक्षीस्वरूप हैं तथा जीवात्मा हँसता-रोता, नाचता-गाता है तथा सुख-दुःख का भोग करता है, किन्तु समय होने पर वह परमात्मा में लीन हो जा सकता है।

पाठक—जब परमात्मा ही जीवात्मा हुए हैं, तब फिर दोनों के अलगाव का कारण क्या है? और जीवात्मा का उनमें लय होना किस प्रकार का है?

भक्त—मैंने तुमसे कुछ समय पहले ही कहा है कि वे एक, अनादि, अनन्त, निर्विकार, निराकार, नामहीन परमात्मा ही हैं, जो सबमें अनुस्यूत तथा जीव-जगत् की सृष्टि के नियामक हैं। स्वयं की महाशक्ति के प्रभाव से वे एक होते हुए भी लीलाओं में अनेकानेक रूपों, वर्णों, गुणों, रसों, शब्दों, गन्धों तथा स्पर्शों में परिणत हुए हैं। मायाशक्ति के द्वारा एक-एक उपाधि को लेकर वे अलग-अलग अवस्थाओं

को प्राप्त होते हैं। उदाहरण के रूप में गिरीशबाबू को लें——उनका नाम गिरीश है, जाति से कुलीन कायस्थ हैं। नाट्यकार, विद्वान्, कविकुलतिलक, रंग-मंच के व्यवस्थापक, शिक्षक आदि हैं। ये सब उनकी एक-एक उपाधियाँ हैं। यथार्थ में वे उपाधियों से रहित हैं, किन्तु उपाधियों के बन्धन में वे जीवात्मा बनकर रह रहे हैं। जिस समय वे अपने स्वरूप को पहचानकर इन उपाधियों का अर्थात् बन्धनों का त्याग करेंगे, उसी क्षण वे परमात्मा में लीन हो जाएँगे। तुमने बड़े मैदान देखे हैं न ? एक-एक भूखण्ड में हजार-हजार खेत होते हैं। ये खेत और कुछ नहीं उस विस्तृत भूखण्ड के ही अंश हैं। ये खेत मेड़ से घिरे रहने के कारण अथवा घेरे' में रहने के कारण अलग-अलग प्रतीत होते हैं। यदि उन मेड़ों या घेरों को समाप्त कर खेतों को मुक्त कर दिया जाय, तो वह भूखण्ड जो मेड़ों द्वारा सैकड़ों खेतों में विभाजित था, एक विशाल क्षेत्र में परिणत होगा। इसी प्रकार जीवात्मागण उपाधि से मुक्त होते ही असीम अनन्त परमात्मा में लीन होंगे। जीवात्मा द्वारा उपाधि को त्यागकर इस अवस्था की प्राप्ति को लय कहते हैं।

पाठक——आपके अनुसार तब क्या परमात्मा निराकार और मन-बुद्धि के अगोचर हैं ?

भक्त——वे निराकार भी हैं और साकार भी। आकाश और वायु जिस प्रकार निराकार होते हुए भी एक प्रकार से साकार हैं, उसी प्रकार परमात्मा निराकार होकर भी एक रूप से साकार हैं। तात्पर्य

यह कि वे जिन-जिन आधारों में हैं, उन आधारों के रूप में वे साकार हैं। वे मनुष्य के आधार में मनुष्य का रूप लेकर, गाय के आधार में गाय का तथा वृक्ष के आधार में वृक्ष का रूप लेकर हैं। जल का कोई आकार नहीं है, परन्तु यदि जल को थाली में रखो तो वह थाली के समान गोल, कलसी में रखो तो कलसी की तरह और घड़े में रखो तो घड़े के समान हो जाता है। यहाँ भी वही बात है।

वे मन-बुद्धि के अगोचर होकर भी मन-बुद्धि के गोचर हैं। मन-बुद्धि जहाँ अशुद्ध है, वहाँ वे अगोचर हैं, किन्तु दूसरी ओर वे शुद्ध मन और शुद्ध बुद्धि के गोचर हैं। इस प्रकार माया की उपाधि होने के कारण वे अनन्त होते हुए भी सान्त हैं, निर्विकार होते हुए भी विकार से युक्त हैं, नामरहित होते हुए भी नाम से युक्त हैं, अर्थात् परमात्मा होते हुए भी जीवात्मा हैं, परन्तु अलग रूप में। इसीलिए विश्वगुरु भगवान् रामकृष्णदेव इन समस्त विषयों की चर्चा करते हुए हँसते-हँसते कहते—यह भी ठीक है, वह भी ठीक है, फिर इन दोनों के अतिरिक्त जो कुछ भी है वह भी ठीक है। ठाकुर ने इस भाव के द्वारा समस्त सन्देहों का नाश कर दिया। उन्होंने सर्वधर्मों का समन्वय किया, विश्वजनीन धर्म की आधारशिला रखी। प्रचलित धर्मों में जो एक दूसरे के प्रति विद्वेष भाव था, उसका मूलोच्छेदन करके उन्होंने रामकृष्ण-अवतार में विवाद-विभंजन नाम-धारण किया। ठाकुर ने जो कुछ भी किया अथवा कहा, वह सब शास्त्रसम्मत तो है ही, साथ

ही उसके भीतर उनकी एक विशेष नवीनता है। नवीनता यही कि उन्होंने किसी को भी त्याज्य नहीं माना, किसी को अस्वीकार नहीं किया। तभी तो लोकशिक्षा हेतु वे कहते हैं, "सब सत्य है, सब सत्य है। तुम लोग झगड़ा मत करो। जिसकी जिस मत से, जिस पथ से जाने की इच्छा है, सरल मन से, व्याकुल हो उस मत पर, उस पथ पर चले चलो। किसी को दो दिन आगे तो किसी को दो दिन पीछे ईश्वर की प्राप्ति अवश्यमेव होगी।" ठाकुर के पास सभी धर्मावलम्बी आते और वे सबकी मनोवांछा पूर्ण करते। जिसने भी ठाकुर को ईश्वर-प्राप्ति के सहायक के रूप में पकड़ा, उसने ईश्वर को पाया। ईश्वर-तत्त्व मानो हमारे ठाकुर के भण्डार का चना-मुरमुरा है। इच्छा करने से ही पसेरी भर देंगे। वे भावावस्था में कहते, "यदि धन-पुत्र चाहते हो तो तारकनाथ जाओ और यदि भगवान् को चाहते हो तो यहाँ आओ।"

पाठक—आप ठाकुर से क्या प्रार्थना करते हैं अथवा उनसे किस वस्तु की माँग करते हैं?

भक्त—मैं यह प्रार्थना करता हूँ कि ठाकुर, तुम्हारे प्रति मेरी कभी अरुचि न होवे और तुम्हारी सेवा-पूजा त्यागने की भावना कभी मेरे मन में न आवे। ये दो प्रार्थनाएँ करता हूँ।

(क्रमशः)

○

मानस-रोग (४/१)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी ने रायपुर के इस आश्रम में विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत 'मानस-रोग' प्रकरण पर सब मिलाकर ४६ प्रवचन प्रदान किये थे। प्रस्तुत लेख उनके चौथे प्रवचन का पूर्वार्ध है। इस प्रवचनमाला की छः किस्तें 'विवेक-ज्योति' के पिछले छः अंकों में प्रकाशित हो चुकी हैं। टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। —स०)

गोस्वामीजी मानस-रोगों के निरूपण में आयुर्वेद की पद्धति का आश्रय लेते हैं। आयुर्वेदशास्त्र की मान्यता है कि व्यक्ति के अगणित रोगों के मूल में तीन धातुएँ ही कारण होती हैं, जिन्हें कफ, वात और पित्त कहकर पुकारा गया है। शरीर इन तीनों धातुओं से संचालित होता है। जब ये तीनों सन्तुलित होती हैं, तो व्यक्ति स्वस्थ रहता है और जब इनमें से कोई प्रबल हो जाती है, तो असन्तुलन उत्पन्न होकर विकृति पैदा होती है तथा व्यक्ति में कोई रोग उत्पन्न हो जाता है। काकभुशुण्डिजी अन्तर्मन की व्याख्या में यही पद्धति अपनाते हैं। वे कहते हैं कि शरीर की त्रिधातु के समान मन की भी त्रिधातु है, जो मन को संचालित करती है। मन की इन तीन धातुओं का नाम है काम, क्रोध और लोभ। व्यक्ति के जीवन में जब तक ये तीनों सन्तुलित हैं, तब तक वह मानसिक रूप से स्वस्थ रहता है, पर जब किसी एक का अति-रेक हो जाता है, तो वह मनोरोग से ग्रस्त हो जाता

है। हर व्यक्ति के जीवन में ये तीनों विद्यमान हैं। इनको नष्ट नहीं किया जा सकता। साधना का तात्पर्य इन्हें नष्ट करना नहीं बल्कि सन्तुलित बनाना है। यह वैसे ही है, जैसे शारीरिक रोग के सन्दर्भ में जब कोई धातु प्रबल हो जाती है, तो वैद्य उस धातु को नष्ट करने की दवा नहीं देता अपितु उसके अतिरेक को मिटाने की व्यवस्था करता है। कारण यह है कि हर धातु मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। उदाहरण के लिए पित्त को ले लें। उसका कार्य है भोजन पचाना। जब आप बाहर अग्नि के द्वारा भोजन बनाते हैं, तब यदि अग्नि सन्तुलित मात्रा में जल रही होगी, तो भोजन ठीक पकेगा और यदि आँच तेज हो जाएगी, तो भोजन जलेगा। इसी प्रकार जब तक पित्त सम रहता है, वह खाये हुए भोजन को पचाता है, पर यदि उसका अतिरेक हो जाय, तो भोजन के बाद पेट में जलन होने लगती है। ऐसी दशा में वैद्य का काम है ऐसी दवा देना, जिससे पित्त तो बना रहे पर उसका अतिरेक दूर हो जाय। यही बात काम, क्रोध और लोभ इन तीन मानस-रोगों पर भी लागू होती है।

हमारे यहाँ त्रिदेव प्रसिद्ध हैं—ब्रह्मा, विष्णु और महेश। यदि आप ध्यान से देखें तो पाएँगे कि ब्रह्मा ने अपने जीवन में काम को स्वीकार किया है, तो विष्णु ने लोभ को और महेश ने क्रोध को। ब्रह्मा सृष्टि के निर्माता है। उन्होंने पहले मानसी सृष्टि की, पर जब उससे उन्हें सन्तोष नहीं हुआ, तब भौतिक सृष्टि के विस्तार का संकल्प किया।

अब यह जो भौतिक सृष्टि है, वह तो शरीर के माध्यम से ही होगी, और शरीर के माध्यम से सृष्टि का विस्तार करने के लिए काम को स्वीकार करना होगा। इसीलिए ब्रह्मा के सृष्टि-विस्तार में काम छिपा हुआ है। इसी प्रकार विष्णु ने लोभ को स्वीकार किया है। यह अटपटी-सी बात लगती है, पर इस आप उलटे अर्थ में न लें। मेरे कहने का ऐसा अर्थ न लें कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश कामी, लोभी और क्रोधी हैं। कुछ श्रोता ऐसे विलक्षण होते हैं कि वे ऐसी बात सुन लेते हैं, जो वक्ता की कल्पना में भी नहीं होती। एक बार मैंने देखा एक श्रोता सामने बैठकर लिखते रहते हैं। मेरे मन में जिज्ञासा हुई, जरा देखें तो ये क्या लिखते हैं। जब देखा तो यह पाया कि उन्होंने लिखा है——भगवान् राम तो बड़े सीधे स्वभाव के थे, पर लक्ष्मण कुटिल स्वभाव क थे! मैंने ऐसा कहा तो नहीं था, पर उन्होंने वैसा सुन लिया और अपने मन से उसका तात्पर्य ग्रहण कर लिया। तो, मेरा अनुरोध यह है कि आप ऐसी भ्रान्ति न करें। मैं तो यही कहना चाहता हूँ कि सृष्टि-निर्माण के मूल में काम की वृत्ति विद्यमान है, जिसे ब्रह्मा स्वीकार करते हैं।

अब विष्णु कौन हैं? यदि कोई थोड़ा धन संग्रह करे, तो लोग उसे लोभी कहते हैं। और विष्णु तो साक्षात् लक्ष्मीपति हैं। अतएव पालन के मूल में भगवान् विष्णु लोभ की वृत्ति स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार शंकरजी हैं संहार के देवता और संहार के लिए क्रोध अपेक्षित होता है। जब वे क्रोध में भरकर

अपना तृतीय नेत्र खोलते हैं, तब संहार होता है। इस प्रकार संहार के मूल में महेश को क्रोध की वृत्ति स्वीकार करनी पड़ती है। इसका अभिप्राय यह है कि काम के द्वारा उत्पत्ति की, लोभ के द्वारा पालन की और क्रोध के द्वारा संहार की प्रक्रिया चलती है और इन तीनों प्रक्रियाओं से सृष्टि संचालित होती है। तो, जिस प्रकार सृष्टि के मूल में ये तीनों तत्त्व विद्यमान हैं, उसी प्रकार व्यक्ति के मन के मूल में भी। जब ये तीनों सन्तुलित रूप में विद्यमान रहते हैं, तब व्यक्ति और समाज स्वस्थ रहते हैं, पर जब इनमें से एक की भी प्रबलता होती है, तब असन्तुलन पैदा हो जाता है और यह विकृति व्यक्ति को, समाज को अस्वस्थ बना देती है।

'रामचरितमानस' में श्री राम को तो ईश्वर का पूर्णावतार निरूपित किया है, पर परशुरामजी को अंशावतार। फिर उन्हें और कुछ नीचे उतारकर 'आवेशावतार' कहकर अपूर्णावतार बताया गया है। एक ओर तो उन्हें ईश्वर का अवतार कहा गया और दूसरी ओर उनके साथ अपूर्णता जोड़ दी गयी। यह एक विचित्र विरोधाभास-सा प्रतीत होता है। पौराणिक भाषा में इसे यों रखा गया है कि भगवान् राम के चरित्र में जिस परिपूर्णता के दर्शन होते हैं, वह परशुराम के चरित्र में विद्यमान नहीं है। यद्यपि उनका चरित्र महान् है और उनके जीवन में उत्कृष्ट गुण विद्यमान हैं, किन्तु ऐसे उच्च पद के अधिकारी होते हुए भी उनके जीवन में अपूर्णता दिखायी देती है। वैसे तो वे काम और लोभ की

विकृतियों के विजेता हैं—न तो उनके जीवन में कभी काम दिखता है, न सत्ता पर अधिकार करने का प्रलोभन, परन्तु वे क्रोध को नहीं जीत सके। उनमें क्रोध की यह जो विकृति है, वही उनके चरित्र को अपूर्ण बना देती है। भगवान् राम और लक्ष्मणजी का उनसे जो वार्तालाप है, उसका उद्देश्य मुख्यतः उनकी क्रोध की विकृति को दूर कर देना है। इसी प्रकार अनेक व्यक्ति होते हैं, जो उत्कृष्ट गुणसम्पन्न होते हुए भी काम या क्रोध या लोभ के अतिरक के कारण असन्तुलित हो जाते हैं, और व्यक्ति की अस्वस्थता के फलस्वरूप समाज भी अस्वस्थ हो जाता है, क्योंकि मानस-रोगों में बड़ी संक्रामकता होती है।

शारीरिक और मानसिक रोगों में जैसे कुछ साम्य है, वैसे ही भिन्नता भी। शारीरिक रोगों में कुछ तो छूत के होते हैं और शेष छूत के नहीं। रोगी के पास बैठने से छूत के रोग स्वस्थ व्यक्ति को भी लग जाते हैं, पर जो छूत के रोगी नहीं हैं, उनके पास बैठने पर यह बात लागू नहीं होती। किन्तु मानस-रोगों क सन्दर्भ में ऐसा विभेद नहीं है, वहाँ तो सारे रोग छूत के हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जो मानसिक रूप से अस्वस्थ व्यक्ति का संग करेगा, उसमें भी किसी न किसी प्रकार की रुग्णता आ ही जाएगी। उदाहरणार्थ, परशुराम तो क्रोध के अतिरेक के कारण अस्वस्थ थे ही, उन्होंने अपने क्रोध से अपने समीप आनेवाले लोगों को भयान्वित कर समाज को अस्वस्थ बना दिया। तब ईश्वर के ऐसे अवतार का प्रयोजन हुआ, जिसमें किसी प्रकार की अपूर्णता न हो, जिसके

जीवन में सन्तुलन और समग्रता हो, और ऐसा अवतार हमें श्री राम के रूप में प्राप्त होता है। 'रामचरितमानस' में इस बात को कई दृष्टान्तों के माध्यम से स्पष्ट किया गया है।

जैसे एक नदी है। नदी का जल जीवनदायी है। उसके अनेक उपयोग हैं। उसमें हम स्नान करते हैं, वस्त्र स्वच्छ करते हैं, खेत की सिंचाई करते हैं। पर यदि उस जल में अतिरेक हो गया यानी बाढ़ आ गयी, तो वही कल्याणकारी होने के बदले दुःखदायी हो जाता है। इसी प्रकार व्यक्ति की स्वस्थता जैसे सब सम्बन्धित जनों को सुख देती है, वैसे ही उसकी अस्वस्थता उनके लिए दुःखदायी बन जाती है। जब साधारण व्यक्ति असन्तुलित होता है, तब परिवार में दुःख की सृष्टि करता है, पर विशिष्ट व्यक्ति का असन्तुलन तो सारे समाज को अस्वस्थ बना देता है, क्योंकि उसका सम्बन्ध सारे समाज से होता है। 'रामचरितमानस' में त्रिदोष के माध्यम से यही स्पष्ट करने की चेष्टा की गयी है कि व्यक्ति और समाज के जीवन में इन त्रिदोषों को कैसे सन्तुलित रखा जाय।

इस सन्दर्भ में मैं आपको आयुर्वेद की और एक मान्यता बता दूँ। वह यह है कि भले ही व्यक्ति के शरीर में कफ, वात और पित्त ये तीन धातुएँ मुख्य हैं, तथापि उनमें कफ और पित्त स्वयं गतिशील नहीं हैं, अपितु वात ही इन दोनों को गति प्रदान करता है। महर्षि चरक के सामने जब यह प्रश्न किया गया कि कफ, वात और पित्त में किसे प्रमुखता दें, तो

उन्होंने उत्तर में वात की मुख्यता ही प्रतिपादित की। तभी तो आयुर्वेदशास्त्र कफ और पित्त की चिकित्सा सरल मानता है, लेकिन वात की चिकित्सा को बड़ा कठिन। वात ही शरीर की अन्य धातुओं को सक्रिय बनाता है, इसलिए वही सारी विकृतियों के मूल में है। इस वात को नियंत्रित कर शरीर को स्वस्थ रखना कठिन कार्य है। इसी प्रकार मानस-रोगों के सन्दर्भ में लोभ और क्रोध की चिकित्सा तो अपेक्षाकृत सरल है, पर काम की चिकित्सा बड़ी कठिन है। 'रामचरितमानस' में विभिन्न दृष्टान्तों के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि लोभ और क्रोध के मूल में भी कहीं न कहीं पर काम ही विद्यमान है। यहाँ पर हमें 'काम' को व्यापक अर्थों में लेना होगा। सभी प्रकार की कामना को हम 'काम' कह सकते हैं। इस 'काम' की दो दिशाएँ हैं—एक है 'लोभ' और दूसरी है 'क्रोध'। जब मनुष्य के मन में काम का जन्म होता है और जब उस कामना की पूर्ति होती है, तब उसके भीतर लोभ जन्म लेता है। काम की पूर्ति से मनुष्य को सन्तोष नहीं होता, अपितु उसकी इच्छा बढ़ती जाती है। कहा भी तो है—'जौ दस बीस पचास मिले सत होय हजारन लाखन की।' दूसरी ओर, यदि कामना की पूर्ति में बाधा आएगी, तो व्यक्ति में क्रोध उत्पन्न होगा। इस प्रकार जो कामना मूल में है, उसी का परिणाम होता है लोभ या फिर क्रोध। तभी तो भगवान् श्रीकृष्ण 'गीता' में काम का परिणाम लोभ न बताकर सीधे क्रोध ही बताते हैं, कहते हैं—

'संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते' (२।६२) —'संग से कामना उत्पन्न होती है और कामना स क्रोध जन्म लेता है।' लगता है कि बीच की कड़ी टूटी हुई है। यह भी तो वे कह सकते थे—'कामात् लोभोऽभिजायते'। पर वह न कह वे कामना से क्रोध उत्पन्न होने की बात कहते हैं। कारण यह है कि व्यक्ति के मन में जब लोभ की वृत्ति उत्पन्न होगी, तो वह कभी सन्तुष्ट तो होगी नहीं, और असन्तोष क्रोध को ही जन्म देगा। इसीलिए उन्होंने काम के पश्चात् सीधे क्रोध के ही उत्पन्न होने की बात कही।

गोस्वामीजी ने 'रामचरितमानस' में विभिन्न पात्रों के माध्यम से काम की जटिलता का बड़ा विलक्षण वर्णन किया है। उसके कुछ संकेतों को आपके समक्ष रखने की चेष्टा करूँगा। हमने पहले ही कहा कि सृष्टि के मूल में काम है अर्थात् काम के द्वारा ही विश्व का सृजन हुआ है। फिर, मनुष्य में सुखानुभूति की जो आकांक्षा है और उस आकांक्षा को पूर्ण करने के लिए उसके समक्ष जितने साधन उपलब्ध हैं, उनमें उसे सबसे अधिक सुखानुभूति होती है काम-सुख में। अब ऐसे काम की निन्दा की जाय या प्रशंसा, जो सृष्टिकर्ता होने के साथ प्राणियों के सर्वाधिक सुख का कारण है? हम 'श्रीरामचरित-मानस' और 'गीता' दोनों में ही काम की निन्दा पाते हैं। 'मानस' में भगवान् राम ने काम की निन्दा की। अरण्यकाण्ड में वर्णन आता है कि भगवान् श्री राघवेन्द्र विलाप करते हुए वन में चारों ओर सीताजी

को खोज रहे हैं। ऐसे समय वे लक्ष्मणजी से एक दिन वार्तालाप करते हुए कहते हैं ३।३८(क)--

तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि बिग्यान धाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ।।

--'हे तात, काम, क्रोध और लोभ--दुर्गुणों में ये तीन अत्यन्त प्रबल दुष्ट हैं। ये विज्ञान के धाम मुनियों के भी मनों को पल भर में क्षुब्ध कर देते हैं।'

यहाँ पर भगवान् राम ने मन के विकारों का वर्णन दुर्गुण-दुर्विचारों के रूप में, राक्षसों के रूप में किया। और 'मानस-रोग' के प्रसंग में काकभुशुण्डिजी इनका वर्णन त्रिधातु के रूप में करते हैं। तो, यह जो भगवान् राम काम आदि की निन्दा करते हैं, वह कुछ अटपटा-सा लगता है। एक ब्रह्मचारी यदि काम की निन्दा करे, तो बात समझ में आती है, पर जब उसकी निन्दा का प्रवचन भगवान् राम के द्वारा हो, तो बात विपरीत-सी प्रतीत होती है। यह विपरीतता तब और भी विलक्षण हो जाती है, जब वे लक्ष्मण के समक्ष काम का अत्यन्त विस्तृत वर्णन करते हैं और कहते हैं--

लछिमन देखत काम अनीका।
रहहिं धीर तिन्ह कै जग लीका।। ।३।३७।११

--'हे लक्ष्मण, कामदेव की इस सेना को देखकर जो धीर बने रहते हैं, जगत् में उन्हीं की वीरों में प्रतिष्ठा होती है।'

भगवान् श्री राघवेन्द्र वृक्ष की छाया में बैठे हुए लक्ष्मणजी से यह वार्तालाप कर ही रहे हैं कि इतने में नारदजी आ जाते हैं। नारद हैं बाल-

ब्रह्मचारी। उनके लिए स्वाभाविक तो यह होता कि भगवान् को ऐसी परिस्थिति में देख वे उनके पास जाकर संवेदना प्रकट करते, कहते कि महाराज, यह तो आप पर बड़ी विपत्ति आ गयी है; पर वे ऐसा कुछ नहीं करते, बल्कि भगवान् के पास जा, उन्हें प्रणाम कर उनसे कहते हैं—महाराज, मेरे मन में एक जिज्ञासा है, आप कृपया उसका समाधान कर दीजिए। भगवान् पूछते हैं कि तुम्हारी क्या जिज्ञासा है। तब नारदजी जो प्रश्न करते हैं, वह प्रश्न कम और व्यंग्य अधिक—भगवान् के प्रति आक्षेप अधिक प्रतीत होता है। नारद यह प्रश्न उनसे पहले भी पूछ सकते थे। वे कितनी ही बार प्रभु से मिल चुके थे। पर नहीं, वे तो इसी अवसर पर अपना प्रश्न पूछते हुए कहते हैं—

तब बिबाह मैं चाहउँ कीन्हा।
प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा॥ ३।४२।३

—'महाराज, यह बताइए, उस समय जब मैंने विवाह करना चाहा था तब आपने करने क्यों नहीं दिया?' अब, यह प्रश्न क्या था, एक प्रकार से व्यंग्य ही था। भगवान् राम पत्नी के लिए रो रहे हैं, वे पत्नी से वियोग के कारण दुःख की स्थिति में हैं, और ऐसे समय नारद का अपने विवाह के बारे में बात करना व्यंग्य है। यह प्रश्न सार्थक उस समय होता, जब श्रीराम दूल्हा बनकर जा रहे थे। तब नारद उनसे मिलकर पूछ सकते थे कि आप जब स्वयं विवाह करने जा रहे हैं, तब मेरा विवाह क्यों नहीं होने दिया? किन्तु उस समय उन्होंने नहीं पूछा।

उस समय तो उनकी भूमिका दूसरी थी। विवाह के प्रसंग में आता है कि ब्रह्मलोक में ब्रह्मा ने भगवान् राम और श्रीसीताजी के विवाह का मुहूर्त निकाला और उसे जनक के पास भेजा। नारदजी माध्यम बने। गोस्वामीजी लिखते हैं--

पठै दीन्हि नारद सन सोई।
गनी जनक के गनकन्ह जोई।। १।३११।७

--ब्रह्माजी ने लग्नपत्रिका तैयार कर नारदजी के हाथ में दी और कहा--'पुत्र, जाओ, तुम्हीं इसे जनक के पास पहुँचा आओ।' और जब नारदजी मुहूर्त लेकर जनकजी के पास पहुंचे, तो पता चला कि जनक के ज्योतिषियों ने भी पहले से वही मुहूर्त निकालकर रखा है। अतएव उन्हें ब्रह्मा के मुहूर्त निकालने की अपेक्षा नहीं थी। इसका कारण यह कि यदि ब्रह्मा विचार के देवता हैं, तो श्रीसीताजी भी मति को निर्मल करनेवाली हैं। गोस्वामीजी लिखते हैं--

जनकसुता जग जननि जानकी।
अतिसय प्रिय करुनानिधान की।।
ताके जुग पद कमल मनावउँ।
जासु कृपाँ निरमल मति पावउँ।। १।१७।७-८

जगज्जननी जानकीजी की कृपा से जनकपुरी के गणकों की बुद्धि निर्मल हो गयी है और उन्होंने भगवान् श्रीराम और सीताजी के विवाह का मुहूर्त पहले से ही निकाल लिया है। अतएव उन्हें ब्रह्मा या नारद के सन्देश की अपेक्षा नहीं है। फिर भी ब्रह्माजी यह जो नारद के माध्यम से सन्देशा भेजते हैं, वह अपने निकाले मुहूर्त को धन्य बनाने के लिए

ही। उस समय भी नारद चाहते तो भगवान् श्रीराम से अपना प्रश्न पूछ सकते थे। फिर प्रभु के चरित्र में अनेक घटनाएँ घटती गयीं और नारद उनमें दर्शक बनकर आये, पर कहीं पर भी उन्होंने प्रभु के सामने अपनी वह समस्या नहीं रखी। और विचित्रता यह है कि आज जब प्रभु सीताजी के वियोग में कातर दिखायी दे रहे हैं, तब नारद यह प्रश्न पूछ बैठते हैं। इसीलिए वह कटाक्ष-जैसा मालूम पड़ता है। प्रभु अन्तर्यामी हैं। वे नारद का अभिप्राय समझ लेते हैं। नारद के मन में यह था कि भूखे को भोजन देना तो ठीक है, पर जिसे भूख न लगे उसे भोजन देना और भूखे को भोजन से वंचित करना यह कहाँ का न्याय है? नारद का संकेत शंकरजी की ओर था। भगवान् शंकर समाधि में तल्लीन थे। उनमें विवाह की कोई कामना न थी। प्रभु उनके सामने प्रकट होते हैं और उनसे विवाह कर लेने की प्रार्थना करते हैं। इधर नारदजी हैं, जो स्वयं विवाह करना चाहते हैं, पर प्रभु उन्हें बन्दर की आकृति दे उनके विवाह में बाधा डाल देते हैं। इस प्रकार प्रभु शंकरजी का विवाह तो करा ही देते हैं, साथ ही साथ स्वयं भी विवाह कर लेते हैं। नारदजी का अभिप्राय यह है कि यदि काम मेरे लिए त्याज्य है, तो वह आपके एवं शंकरजी के लिए भी त्याज्य क्यों नहीं? और जब आप और शंकरजी विवाह कर सकते हैं, तब मेरे विवाह में आपको क्या आपत्ति है? भगवान् श्रीराम नारद के इस प्रश्न का उत्तर संकेत से भी देते हैं और वाणी से भी। उनका अभिप्राय यह है कि नारद, मुझे

देखकर तो तुम्हारे मन में विवाह की इच्छा और भी मिट जानी चाहिए; विवाह करके पत्नी के वियोग में मैं कैसा दुःखी हूँ यही तुम्हारे लिए एक सार्थक संकेत है।

और सचमुच, भगवान् राम अपने अलग-अलग चरित्र के माध्यम से अलग-अलग गुणों का दर्शन कराते हैं। कहीं पर वे सत्यनिष्ठ हैं, तो कहीं पर शीलवान्, फिर कहीं वे उदार की भूमिका का निर्वाह करते हैं। और अभी अरण्यकाण्ड में वे जो अभिनय कर रहे हैं, वह कामी की दुर्बलता दिखाने के लिए और उसके माध्यम से धीर व्यक्ति के वैराग्य को दृढ़ करने के लिए। गोस्वामीजी लिखते हैं—

कामिन्ह कै दीनता देखाई।
धीरन्ह कें मन बिरति दृढ़ाई ।। ३।३८।२

इस प्रकार प्रभु के चरित्र में एक ओर जैसे काम और शृंगार की लीला है, वैसे ही दूसरी ओर तीव्र वैराग्य की भी। जब अयोध्या में उन्हें वनवास जाने का आदेश मिलता है, तब वहाँ पर उनके चरित्र में प्रबल वैराग्य का प्रदर्शन है। पर जब वे विदेह-नन्दिनी श्रीसीताजी को लेकर वन में आये हुए हैं, मुनियों के बीच रहते हैं, तब उनके व्यवहार में शृंगार-पक्ष की प्रधानता दिखाई देती है।

प्रसंग आता है कि वन की ओर जाते हुए भगवान् श्रीराम सीताजी और लक्ष्मण के साथ एक वृक्ष के नीचे विश्राम कर रहे हैं। इतने में गाँव की स्त्रियाँ सीताजी के पास आती हैं और उनसे पूछती हैं कि श्रीराम आपके कौन हैं? पर यह प्रश्न करने से पूर्व उन्होंने भगवान् राम के

अंग-प्रत्यंग का वर्णन किया। किन्तु यह तो परम्परा नहीं है। साधारणतया जब आप किसी का परिचय पूछते हैं, तब पहले उसके अंगों का वर्णन तो नहीं करते--ऐसा तो नहीं कहते कि जो काले रंग का या गोरे रंग का है, जिसकी आँखें ऐसी हैं, शरीर ऐसा है, उसका परिचय बताइए। अतएव गाँव की स्त्रियों का भगवान् राम के अंगों का वर्णन अस्वाभाविक लगता है। फिर, यह अस्वाभाविकता तब और भी बढ़ जाती है, जब एक स्त्री दूसरी स्त्री से सामने-वाली स्त्री के पति की सुन्दरता का वर्णन करे। यदि कोई स्त्री दूसरी के पति के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहे कि तुम्हारा पति बड़ा सुन्दर है, तो यह सुशोभन नहीं माना जाएगा। यह मर्यादा के विपरीत बात होगी। गाँव की स्त्रियाँ सीताजी से सीधे ही पूछ सकती थीं कि ये पुरुष तुम्हारे कौन हैं। पर वे तो श्रीराम के रूप का वर्णन करते हुए सीताजी से पूछती हैं। सीताजी उत्तर में कह सकती थीं कि क्या तुम्हें देखकर पता नहीं चल रहा है ? और वे अपना ऐसा अभिप्राय संकेत से व्यक्त भी कर देती हैं। इस पर गाँव की स्त्रियाँ कहती हैं कि क्या करें, देखने से पता चलता भी है, फिर नहीं भी चलता, क्योंकि यहाँ तो बड़ा विरोधाभास है।

क्या है वह विरोधाभास ?--सीताजी पूछ सकती हैं।

यही कि--"सीस जटा"--सिर पर जटा है। अब जटा तो मुनि लोग रखा करते हैं। इन्हें देखकर शान्त, तपस्वी मुनि और त्यागी की कल्पना तो होती

है, पर इनके "उर-बाहु बिसाल"––वक्षःस्थल और भुजाएँ विशाल हैं और तुम इनके साथ हो, इसलिए लगता है कि ये मुनि नहीं हैं। फिर, "बिलोचन लाल"––इनकी आँखों में लाली है, जो शृंगार-रस की सूचना देती है।

सीताजी कह सकती हैं कि क्या किसी त्यागी महात्मा की आँखें लाल नहीं हो सकतीं? ध्यानमुद्रा में रहने के पश्चात् भी तो आँखों में लाली दिखायी दे सकती है। अतएव आँखों की यह लाली शान्त-रस की भी तो सूचना दे सकती है।

इस पर गाँव की स्त्रियाँ कहती हैं––नहीं, नहीं, वह शान्त-रस नहीं है, क्योंकि नेत्रों की लाली के साथ-साथ "तिरछी-सी भौंहें"––भौंहों में तिरछापन है, जो शृंगार-रस की ही सूचना देता है। फिर, "तून सरासर-बान धरें"––ये धनुष-बाण और तरकस धारण किये हुए हैं, इससे समझ में नहीं आता कि ये हिंसक हैं या अहिंसक। यदि ये मुनि हैं तो फिर विरागी मानें या शृंगारी? यह तो बड़ा विरोधाभास है?

सीताजी कह सकती हैं––यह तुम मुझसे क्यों पूछ रही हो, सीधे इन्हीं से क्यों नहीं पूछ लेतीं?

हम पूछ तो लेतीं––गाँव की स्त्रियाँ कहती हैं, पर ये तो तुम्हारी ओर बार-बार देख रहे हैं––"सादर बारहिं बार सुभायँ चितै तुम्ह त्यों।" यदि हमारी ओर देखते होते तो हम पूछ भी लेतीं।

ये यदि मेरी ओर देख रहे हैं तो तुम लोगों को क्यों बुरा लग रहा है?––सीताजी कह सकती

थीं।

वे ग्रामीण बालाएँ बोलीं—बुरा तो नहीं लग रहा है, पर विचित्र विरोधाभास अवश्य मालूम पड़ता है। यदि ये हमारी ओर देखते तो हमें इनसे पूछने में कोई संकोच न होता। फिर यदि ये आपकी ओर देखकर आपको आकृष्ट करते होते तो वह भी स्वाभाविक था, पर विरोधाभास यह है कि ये देखते तो आपकी ओर हैं, पर चित्त हमारा चुरा लेते हैं—"हमरो मनु मोहैं।" इसीलिए तुमसे पूछती हैं, सखी, बताओ तो ये साँवले-से कुँवर तुम्हारे कौन होते हैं?—"पूँछति ग्रामबधू सिय सों, कहौ साँवरे-से सखि रावरे को हैं" ('कवितावली', अयोध्याकाण्ड, २१)

वैसे तो यह बड़ा भावनात्मक प्रसंग है, पर यदि हम दार्शनिक भाषा में विचार करके देखें, तो यह लगता है कि इसके माध्यम से ईश्वर के स्वरूप की अनिर्वचनीयता ही कही गयी है। अलग-अलग आचार्यों ने ईश्वर के स्वरूप का भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णन किया है। श्री वल्लभाचार्य महाप्रभु ईश्वर के लक्षण का निर्वचन करते हुए कहते हैं कि वह 'अखिलविरुद्धधर्माश्रय' है, अर्थात् उसमें परस्पर-विरोधी धर्म निवास करते हैं। साधारणतया एक व्यक्ति में परस्पर-विरोधी गुण नहीं दिखायी देते। ईश्वर ही ऐसा है, जिसमें परस्पर-विरोधी गुण एक साथ विद्यमान रहते हैं। यह विरोधाभास ईश्वर की परिपूर्णता का ही संकेत देता है। इसीलिए ईश्वर को समझ पाना अत्यन्त कठिन है। गाँव की स्त्रियाँ ईश्वर के तत्त्व को हृदयंगम करना चाहती हैं। इसके लिए वे भक्तिस्वरूपा विदेहनन्दिनी

सीता को माध्यम चुनती हैं; क्योंकि ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान भक्ति के माध्यम से ही पाया जा सकता है। उन स्त्रियों के प्रश्न में मीठा व्यंग्य भी है, फिर चुटकी भी और साथ ही साथ ब्रह्मतत्त्व को जानने की जिज्ञासा भी। सीताजी का उत्तर भी प्रश्न ही के अनुकूल है। वे रहस्यमय उत्तर देती हैं। यदि वे प्रश्न का मात्र स्थूल उत्तर देना चाहतीं तो कह सकती थीं कि ये मेरे पति हैं। अथवा वे वैसा भी उत्तर दे सकती थीं, जैसा कि मैथिलीशरणजी ने अपने काव्य 'साकेत' में उन्हें देती हुई बताया है। वे लिखते हैं कि सीताजी ने सीधे यह नहीं कहा कि ये मेरे पति हैं, अपितु लक्ष्मणजी को दिखाकर कहा कि वे मेरे देवर हैं और ये साँवले वर्ण के राजकुमार उनके बड़े भाई हैं। पर 'रामचरितमानस' में वे भगवान् राम का परिचय इस प्रकार नहीं देतीं। लक्ष्मणजी का परिचय तो अपनी वाणी से देती हैं, पर श्री राम का परिचय देने के लिए उन्होंने वाणी का प्रयोग नहीं किया, बल्कि—

बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी।
पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि।
निज पति कहेउ तिन्हहि सियँ सयननि॥ २।११६।६-७

—'अपने चन्द्रमुख को आँचल से ढककर और प्रियतम की ओर निहारकर भौंहें टेढ़ी करके, खंजन पक्षी के-से सुन्दर नेत्रों को तिरछा करके सीताजी ने इशारे से उन्हें बताया कि ये मेरे पति हैं।'

अब, भगवान् श्री राम का सीताजी के द्वारा

संकेत से दिया जानेवाला यह जो परिचय है, उसका भौतिक सन्दर्भ में तात्पर्य हो सकता है संकोच। पति का वाणी से परिचय देने में एक भारतीय नारी संकोच का अनुभव करती है। इसलिए सीताजी लज्जावश अपने मुख को आँचल से ढाँक लेती हैं और संकेत से श्री राम का परिचय देती हैं। पर साथ ही इसका एक गूढ़ आध्यात्मिक अर्थ भी है, और वह यह कि ब्रह्म ऐसा अनिर्वचनीय है कि उसका परिचय वाणी के माध्यम से दिया ही नहीं जा सकता, उसके सम्बन्ध में केवल संकेत के द्वारा ही कुछ कहा जा सकता है। सीताजी ने श्रीराम का परिचय संकेत से देते हुए यही सिद्ध किया कि श्री राम साक्षात् ब्रह्म हैं।

इस प्रकार इस प्रसंग की विभिन्न दृष्टिकोणों से व्याख्या की जा सकती है। और यह तो उचित ही है कि व्यक्ति किसी घटना की व्याख्या अपनी दृष्टि से करता है। आपने कालिदास के प्रारम्भिक जीवन का वह प्रसिद्ध उपाख्यान सुना होगा, जब वे महामूढ़ थे। विद्योत्तमा ने घोषणा की थी कि जो मुझे शास्त्रार्थ में हरा देगा, मैं उसी से विवाह करूँगी। उसने सारे पण्डितों को परास्त कर दिया था। तब पण्डितों ने मिलकर निर्णय किया कि इस राजकुमारी को अपने पाण्डित्य का बड़ा दम्भ है, अतएव इसका विवाह किसी महामूर्ख से करा दिया जाय। वे ऐसे किसी महामूर्ख की खोज में चल पड़े। एक स्थान पर देखा कि एक व्यक्ति जिस डाल पर बैठा था, उसी को मूल से काट रहा था। उन्होंने निश्चय किया कि

इससे बढ़कर मूर्ख कोई हो नहीं सकता। वे उसको यह कह साथ ले गये कि चलो, हम तुम्हारा ब्याह राजकुमारी से करा देंगे। जब उसने पूछा कि हमें इसके लिए क्या करना होगा, तो उन लोगों ने कहा—तुम बस चुप ही रहना, तुम्हें और कुछ नहीं करना है। तुम्हें मुँह से कुछ नहीं बोलना है, केवल संकेत से बात करनी है। उधर पण्डितों ने विद्योत्तमा के पास आकर कहा कि राजकुमारी, एक व्यक्ति हम लोग खोज लाये हैं, जो महापण्डित हैं। वे विद्यारस में इतना डूबे हुए हैं कि बोलना ही बन्द कर दिया है, मौन हो गये हैं और संकेत से वार्तालाप करते हैं। इस प्रकार राजकुमारी और उस महामूर्ख का वार्तालाप शुरू हुआ। राजकुमारी ने एक उँगली दिखाकर संकेत से मानो यह पूछा कि क्या आप ब्रह्म को एक और अद्वितीय मानते हैं? महामूर्ख ने समझा कि यह मेरी एक आँख फोड़ने के लिए एक उँगली दिखा रही है। उसने उत्तर में दो उँगलियाँ दिखा दीं। उसका तात्पर्य तो यह था कि यदि तुम मेरी एक आँख फोड़ोगी, तो मैं तुम्हारी दोनों आँखें फोड़ दूँगा, पर पण्डितों ने इसकी व्याख्या भिन्न प्रकार से की। उन्होंने कहा—राजकुमारी, ये कह रहे हैं कि तत्त्व दो हैं—एक, ब्रह्म और दूसरा, जीव। अब संकेत करनेवाले के मन में चाहे जो अर्थ हो, पर व्याख्या करनेवाला तो उसे अपने ही अर्थ में लेता है। जिसकी जैसी बौद्धिक क्षमता होती है, वह उसी के अनुसार अर्थ करता है। अन्ततोगत्वा विद्योत्तमा को पराजित हो जाना पड़ा और उसे इस महामूर्ख

को पति के रूप में वरण करना पड़ा, जो कालान्तर में कालिदास के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अस्तु।

तो, यह सब कहने का तात्पर्य यह है कि ब्रह्म का परिचय कैसे दिया जाय? क्या वाणी से? तब तो वह ससीम हो जाएगा। इसलिए किशोरीजी संकेत से परिचय देती हैं। वे पहले बंकिम दृष्टि से भगवान् श्री राघवेन्द्र को देखती हैं—'पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी', और इसके माध्यम से यह बता देती हैं कि सीधी दृष्टि से ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता, उसके लिए तो एक विशेष प्रकार की भंगिमा चाहिए। इसमें संकेत यह था कि साधारणतया लोग लक्ष्मणजी को टेढ़े स्वभाव के मानते थे और भगवान् राम को सीधे स्वभाव के। पर सीताजी गाँव की स्त्रियों को दोनों का परिचय देते हुए क्रम को उलट देती हैं। लक्ष्मणजी का परिचय देते हुए कहती हैं—'सहज सुभाय' (२।११६।५)—ये बड़े सीधे स्वभाव के हैं। गाँव की नारियाँ कह सकती हैं कि जब ये इतने सीधे हैं तब तो इनके बड़े भाई और भी सीधे होंगे। इस पर सीताजी मानो कहती हैं—नहीं, नहीं, इनके बड़े भाई केवल देखने में ही सीधे हैं, वे तो ऐसे हैं कि उन्हें देखने के लिए भी दृष्टि टेढ़ी करनी पड़ती है! सीताजी का तात्पर्य यह था कि ईश्वर केवल बाहर से ही सीधा प्रतीत होता है, पर तत्त्वतः वह टेढ़ा ही है। सीधा तो बेचारा जीव है। यह तो ईश्वर का चमत्कार है कि सृष्टि की रचना करके वह ऐसा खेल रचता है, जिसमें जीव परवश के समान नृत्य करता रहता है और वह स्वयं मजा

देखता रहता है।

इस प्रकार श्री किशोरीजी ब्रह्म की अखिल विरुद्ध-धर्माश्रियता का परिचय देती हैं—अर्थात् श्री राम में अखिलविरुद्धधर्माश्रियता है। उनमें राग भी है और विराग भी। वे अपने चरित्र में राग और विराग दोनों की परिपूर्णता का दर्शन कराते हैं। भगवान् श्री वेद-व्यास 'श्रीमद्भागवत' में भगवान् राम की वन्दना करते हुए उनके परिपूर्ण राग और वैराग्य को अभि-व्यक्त करने के लिए दो प्रसंग चुनते हैं। उनके वैराग्य को प्रकट करते हुए कहते हैं—

त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं
धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम् (११/५/३४)

—आप ऐसे धर्मनिष्ठ हैं, ऐसे विरागी और त्यागी हैं कि अपने पिता के वचनों से देवताओं के लिए भी स्पृहणीय और दुस्त्यज राज्यलक्ष्मी को छोड़कर आप वन-वन घूमते फिरे!

किसी ने गोस्वामीजी से पूछा—अच्छा, अयोध्या के इतने बड़े राज्य को छोड़कर जाने में भगवान् राम के मन पर कुछ तो प्रभाव पड़ा होगा? गोस्वामीजी न उत्तर दिया—यह ऐसा है जैसे आप विश्राम के लिए किसी वृक्ष के नीचे रुके हुए हों या कि रास्ते में किसी धर्मशाला में ठहरे हुए हों। जब आप उस स्थान को छोड़कर जाते हैं, तब क्या आपको कोई दुःख होता है? बल्कि आप तो उतावले रहते हैं कि कब इससे पीछा छूटे और हम अपने गाँव पहुँचें। भगवान् राम भी ठीक इसी प्रकार अयोध्या के राज्य का परित्याग कर देते हैं। वे 'कवितावली' में लिखते हैं—'राजिव-

लोचन रामु चले तजि बाप को राजु बटाउ कीं नाईं' (अयोध्याकाण्ड, १)। साधारण नियम तो यह है कि बाप के राज्य पर बेटा अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानता है, लेकिन भगवान् श्री राघवेन्द्र ने अपने पिता के राज्य पर भी अपना कोई अधिकार नहीं माना और वे उसे एक बटोही के समान छोड़कर चले गये। 'रामचरितमानस' में गोस्वामीजी लिखते हैं—

नव गयंदु रघुबीर मनु राजु अलान समान।
छूट जानि बन गवनु सुनि उर अनंदु अधिकान।। २/५१

—भगवान् श्री राम का मन नये पकड़े हुए हाथी के समान है और राजतिलक उस हाथी के बाँधने की काँटेदार लोहे की बेड़ी के समान। 'वन जाना है' यह सुनकर, अपने को बन्धन से छूटा जानकर, उनके हृदय में आनन्द बढ़ गया है।

तो, ऐसे विरागी हैं श्री राम! पर उनके चरित्र का दूसरा पक्ष भी है और वह है राग का। इसे चित्रित करते हुए वेदव्यास 'भागवत' में लिखते हैं—

मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्।
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्।। (११/५/३४)

—हे महापुरुष, आपमें राग भी इतना है कि अपनी प्रेयसी सीताजी के चाहने पर जान-बूझकर आपके चरणकमल मायामृग के पीछे दौड़ते रहे। सचमुच आप प्रेम की सीमा हैं। प्रभो, मैं आपके उन्हीं चरणारविन्दों की वन्दना करता हूँ।

तो, उनमें विराग इतना कि पिता के कहने से सोने ही सोने से भरी अयोध्या का परित्याग कर दिया, और फिर राग भी इतना कि सीताजी के कहने से

सोने के मृग को पाने के लिए ऐसा भागे कि सीताजी को ही गँवा बैठे! यही उनमें परस्पर-विरोधी राग और विराग की पराकाष्ठा है। इसी प्रकार उनके चरित्र में जय का भी पक्ष है और पराजय का भी, गुण का भी पक्ष है, और दोष का भी। पर ध्यान देने की बात यह है कि उन्होंने अपने चरित्र में जो दोष-पक्ष स्वीकार किया है, वह साधक को सावधान करने के लिए ही।

(क्रमशः)

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) सबै परे भ्रमजाल में

प्रसिद्ध दार्शनिक सन्त कन्फ्यूशियस को एक बार फारस देश में जाना पड़ा। तब वहाँ के राजा ने उन्हें बुलावा भेजा। उनके जाने पर राजा ने उनके सामने तीन पिंजड़े रखे, जिनमें से एक में एक चूहा था, जिसके समीप सुन्दर खाद्य पदार्थ रखे हुए थे। दूसरे पिंजड़े में एक बिल्ली थी, जिसके सामने दो कटोरियों में दही और दूध रखा हुआ था। तीसरे में एक बाज पक्षी था, जिसके पास मांस का टुकड़ा रखा हुआ था। लेकिन आश्चर्य की बात यह थी कि पिंजड़ों में रखे पदार्थों की ओर वे देख तक नहीं रहे थे।

राजा ने कन्फ्यूशियस से प्रश्न किया, "क्या कारण है कि इन तीनों में से कोई भी खाद्य पदार्थ को खा नहीं रह है?" सन्त ने उत्तर दिया, "चूहे और बिल्ली को वर्तमान का भय है, जबकि बाज को भविष्य का, और यह भय लोभमिश्रित है। चूहे और बिल्ली को भय है कि कहीं बाज उन पर झपट न पड़े, इसलिए वे सोचते हैं कि जब मरना है, तो भूखे ही क्यों न मरें? इधर बाज पक्षी यह सोच रहा है कि कहीं सामने आया हुआ शिकार (चूहा और बिल्ली) निकल न जाय, इसलिए उसका ध्यान उनके पिंजड़ों की ओर है। इस प्रकार तीनों भयग्रस्त हैं और यदि उन्हें इसी प्रकार रहने दिया जाए, तो वे सामने रखी हुई भोजनसामग्री की उपेक्षा कर मिथ्या भय के कारण भूखों मर जाएँगे।

(२) दया धरम हिरदे बसे

सन्त लीओ काबा की यात्रा पर थे कि रास्ते में

उन्हें एक अपाहिज कुत्ता दिखाई दिया। बात यह थी कि उसके पैरों पर से कोई गाड़ी निकल गयी थी, इस कारण वह घायल हो गया था और चलने-फिरने की भी उसकी हालत न थी। सन्त को उस पर दया आयी। उन्होंने सोचा कि कुत्ते की ओर यदि किसी ने ध्यान नहीं दिया, तो बेचारा पड़ा-पड़ा मर जाएगा, इसलिए वे रुक गये और कुत्ते को उठाकर एक कुएँ तक ले गये। लेकिन वहाँ कोई रस्सी-बाल्टी न देख पसो पेश में पड़ गये। तब उन्हें एक युक्ति सूझी। उन्होंने पेड़ के पत्तों को तोड़कर एक बड़ा दोना बनाया और अपनी पगड़ी को फाड़कर उसे दोने से बाँधकर पानी निकालना चाहा, लेकिन कुआँ काफी गहरा होने के कारण दोना पानी तक पहुँच न रहा था। तब उन्होंने अपना सलवार उतारा और उसे पगड़ी के टुकड़ों से बाँधकर पानी निकाला और कुत्ते को पिलाया। थोड़ी देर में कुत्ते को होश आया। सन्त को खुशी हुई और वह उसे उठाकर चलने लगे। रास्ते में एक मस्जिद मिली, तो वहाँ उन्होंने नमाज़ पढ़ी और मुल्ला से कहा कि वे काबा जा रहे हैं, पर चूँकि कुत्ते को साथ ले जाना सम्भव नहीं है, इसलिए उनके वापस आने तक वह उसकी देखभाल करे। मुल्ला द्वारा स्वीकृति देने पर वे आगे बढ़ गये। रात होने पर जब वे एक पेड़ के नीचे विश्राम कर रहे थे, तब अकस्मात् आकाशवाणी हुई—"तूने एक प्राणी की रक्षा की है, इसलिए तेरा हज हमें कुबूल है। अब तुझे वहाँ जाना हो तो जा और न जाना हो तो तेरी मर्ज़ी।"

(३) हरि सा हीरा छाँड़िके

सन्त अबू हफ़स हदाद बेनागा इबादत करते थे। एक दिन एक जादूगर के करतबों से आकर्षित हो उन्होंने उससे जादू सीखने की जिद की। जादूगर ने उनसे पूछा कि क्या वे अल्लाह की इबादत करते हैं। उनके द्वारा 'हाँ' कहने पर जादूगर बोला, "देखो जी, जादू और इबादत का मेल नहीं बैठता। अगर जादू सीखना है, तो इबादत बन्द करनी होगी। जादू सीखने का ठान ही लिया है, तो चालीस दिन तक इबादत मत करो और फिर मेरे पास आओ।" सन्त अबू ने निश्चय कर लिया था कि जादू सीखना है, इसलिए जादूगर के कहे मुताबिक उन्होंने चालीस दिन तक इबादत बिलकुल नहीं की और जादूगर के पास गय। जादूगर उन्हें करतब सिखाने लगा, मगर वे करने नहीं पा रहे थ। तब जादूगर ने पूछा, "शायद तुमने मेरा कहना नहीं माना और इस दौरान इबादत करत रहे।" अबू द्वारा इन्कार करन पर जादूगर बोला, "फिर तुमने जरूर कोई नेक काम किया होगा।" सन्त ने पहले तो नाही की, मगर फिर उन्हें याद आया और वे बोले, "हाँ, मैं जब इधर आ रहा था, तो रास्ते में मुझे बहुत से पत्थर पड़े मिले। मैंने सोचा किसी को ठोकर लग सकती है, इसलिए उन्हें सड़क से हटाकर एक तरफ कर दिया था। शायद यही नेक काम हो सकता है।"

जादूगर ने सुना, तो हँसकर कहा, "तुम भी कितने मूरख हो कि जिस खुदा ने तुमको जन्म दिया, उसे ही तुम भूल गये। अरे, जिसने मेरे इस मामूली से कमाल को बेअसर कर दिया, उसे भी तुम भुला बैठे। जिसकी तुम रोज इबादत करते थे, केवल इल्म

सीखने के लिए उससे मुँह फेर लिया और अब भी वह हासिल करना चाहते हो ! " इन शब्दों ने अबू पर असर किया। उन्हें पश्चात्ताप हुआ कि सचमुच उन्होंने तुच्छ जादू के लिए खुदा को भुलाने की चेष्टा की। उन्होंने कसम खायी कि उससे अब कभी मुँह नहीं मोड़ेंगे।

(४) ऐसी करनी कर चलो

यहूदी सन्त सिम्शा बुनेन के पड़ोस में एक दुराचारी व्यक्ति रहता था। उसकी बुरी आदतों को देख उन्हें बड़ा दुःख होता। वह व्यक्ति शतरंज का शौकीन होने के कारण एक दिन बुनेन ने उसे शतरंज खेलने के लिए बुलाया। खेल के दौरान उन्होंने जान-बूझकर गलत चाल चली। जब वह व्यक्ति उनके मोहरे को मारने लगा, तो 'माफ कीजिए' कहकर वे मोहरे को वापस लेने लगे। उस आदमी ने कोई आपत्ति न की और चाल वापस लेने दी। थोड़ी देर बाद बुनेन ने पुनः गलत चाल चली और माफी माँगते हुए अपनी चाल वापस लेनी चाही। लेकिन इस बार वह व्यक्ति नाराज़ हो गया और बोला, "मैंने एक बार मोहरा वापस लेने क्या दिया कि आप तो बार-बार चाल वापस लेना चाहते हैं। इस बार मैं चाल वापस नहीं लेने दूंगा।"

तब सिम्शा ने हँसकर उससे कहा, "भाई, तुम खेल में मेरी दो गलत चालों को नजरअन्दाज करने को राजी नहीं हो, लेकिन अपनी जिन्दगी में गलत चाल चलकर चाहते हो कि खुदा उन्हें हमेशा नजरअन्दाज करता रहे। लेकिन ध्यान रखो गलत चालों का अंजाम कभी अच्छा नहीं होता, इसलिए यदि हमें दुनिया म

रहना है, तो बुरे कर्मों का त्याग कर स्वयं को अच्छे कामों में ही लगाना चाहिए।"

(५) सेवा की कीमत मत आँको

एक बार सन्त जुनैद हजामत बनाने के लिए नाई के पास गये। उस समय वह एक धनी ग्राहक की हजामत बना रहा था। सन्त जुनैद ने सोचा कि यह नाई शायद केवल अमीर लोगों की ही हजामत बनाता होगा, इसलिए उन्होंने उससे नम्रता से पूछा, "क्या आप मेरी हजामत बनाएँगे ?" "बेशक" कहते हुए नाई ने उस धनी व्यक्ति की हजामत को बीच में ही छोड़-कर उनकी हजामत बनाना शुरू किया। खत्म होने पर जब सन्त उसे पैसे देने लगे, तो नाई ने कहा, "यह रख लीजिए और मेरी ओर से इसे भेंट समझिए ।" और वह पहले ग्राहक की हजामत बनाने लगा। सन्त ने पैसे तो वापस रख लिये, मगर मन ही मन निश्चय किया कि उन्हें सबसे पहले जो कुछ भी दान में मिलेगा, वह वे इस नाई को दे देंगे।

जब थोड़ी देर बाद उनका एक भक्त अशर्फियों से भरी थैली लेकर उनके पास आया, तब थैली लेकर वे नाई के पास आये और बोले, "लो, मेरी ओर से यह भेंट रख लो।" नाई ने जो सुना, तो नाराज हो उन पर बरस पड़ा, "आप भी बड़े विचित्र हैं। मैंने भगवान् की सेवा समझकर जो काम किया था, उसे आप ग्रहण नहीं करना चाहते और मुझे ही भेंट देकर खुद गलत काम कर रहे हैं और मेरे नेक काम को झुठलाना चाहते हैं !" यह सुन सन्त जुनैद शर्मिन्दा हुए और चुपचाप वहाँ से चले गये।

श्रीरामकृष्ण के दिव्य दर्शन (३)

दक्षिणेश्वर से कामारपुकुर को और पुनः वापसी

स्वामी योगेशानन्द

(विवेकानन्द वेदान्त सोसायटी, शिकागो, अमेरिका)

(लेखक ने श्रीरामकृष्ण के जीवन में घटे दिव्य अनुभवों का संकलन कर 'वेदान्त केसरी' अंग्रेजी मासिक में धारावाहिक रूप से ब्रह्मचारी बुद्धचैतन्य के नाम से प्रकाशित किया था। उसी लेख-माला को रामकृष्ण मठ, मद्रास ने (The Visions of Sri Rama-krishna) के नाम से ग्रन्थाकार में प्रकाशित किया है, जिसकी अनुमति से यह हिन्दी अनुवाद पाठकों के लाभार्थ प्रकाशित किया जा रहा है। अनुवादक हैं ब्रह्मचारी प्रज्ञाचैतन्य, जो सम्प्रति रामकृष्ण मठ नागपुर में कार्यरत हैं।—स०)

श्रीरामकृष्ण के जीवन में १८५८ ई का वर्ष बाह्य एवं आन्तरिक दोनों ही दृष्टियों से घटनाबहुल था। अब हम श्रीरामकृष्ण के मानसिक जीवन में दिव्य मूर्तियों की टोली को साक्षात् प्रवेश करते तथा उनकी आत्मा में विलीन होते देख पाते हैं। इसके बाद प्रकट होती हैं श्रीसीताजी, जिनका व्यक्तित्व भारत के धर्मेतिहास में सबसे महिमामण्डित है। श्रीरामकृष्ण उन दिनों अपने कुल-देवता रघुवीर के प्रति दास्यभाव की साधना कर रहे थे। इस साधना में अपने आप में श्रीराम के विश्वस्त दूत हनुमान् की शरणागति का भाव आरोपित करना पड़ता है। ठाकुर के जीवन में हनुमान् के साथ यह एकात्मता इतनी सर्वांगसम्पूर्ण हो गयी कि उनके शरीर में उन भक्तराज के साथ कुछ सादृश्य भी आ गया था। एक दिन जब वे पंच-वटी में ध्यान न करते हुए, आँखें खोले हुए सहज बैठे थे कि उनके समक्ष एक अनुपम ज्योतिर्मयी नारीमूर्ति

प्रकट हुई, जिससे आसपास का सब कुछ आलोकित हो उठा। इस बार बाह्य जगत् का लोप न हुआ और वह इस घटना की पृष्ठभूमि के रूप में बना रहा। ठाकुर ने इस दर्शन को काफी महत्त्व दिया था तथा बिना किसी पूर्वाभास के होनेवाला अपने ढंग का पहला दर्शन कहकर इसका वर्णन किया था। इसका एक अन्य रोचक पक्ष यह है कि ठाकुर ने इसे मानवीय मूर्ति के रूप में पहचाना, क्योंकि सीताजी अन्य देवियों के समान तीन नेत्रों या अन्य दैवी लक्षणों[1] से युक्त होकर नहीं प्रकट हुई थीं। तथापि उन्होंने बताया था कि प्रेम, दु:ख, सहिष्णुता और करुणा के भाव सीताजी के मुख-मण्डल पर इतने गहरे थे जितने प्राय: देवमूर्तियों में भी दृष्टिगोचर नहीं होते। वे उत्तर दिशा से धीमी और गम्भीर चाल से चलती हुई, ठाकुर की ओर प्रसन्न दृष्टि से देखती हुई, उन्हीं की ओर चली आ रही थीं। वे कौन हैं यह न जानकर वे विस्मयपूर्वक उनकी ओर देखने लगे। उन्होंने बताया था—"ठीक उसी समय एक बड़ा भारी बन्दर कहीं से 'हुप ! हुप !' करता हुआ वहाँ आकर उनके चरणों में गिर पड़ा, यह देख-कर मेरा मन भीतर से कह उठा, 'सीता, जन्मदु:खिनी सीता, जनकराजनन्दिनी सीता, राममय-जीविता सीता!' तब 'माँ'-माँ' कहकर अधीर हो मैं उनके चरणों में लोट ही रहा था कि तत्काल वे बड़ी तेजी से आगे बढ़कर (अपने शरीर को दिखाते हुए) इसमें प्रविष्ट हो गयीं ! —आनन्द तथा विस्मय से मैं विह्वल हो

१. जैसे, छाया का न पड़ना, पाँव का जमीन से ऊपर उठा रहना, इत्यादि।

उठा तथा अचेत होकर गिर पड़ा। जन्मदु:खिनी सीताजी का दर्शन सर्वप्रथम होने के कारण ही सम्भवतः मुझे उनकी तरह आजन्म दु:ख भोगना पड़ रहा है!" परन्तु ठाकुर के शरीर में विलीन होते समय सीताजी अपना एक चिह्न छोड़ गयीं। कहते हैं कि वे उन्हें अपनी मुसकान दे गयीं—ठाकुर का छायाचित्र देखने से लगता है कि उस मुसकान में दु:ख का लेश तक नहीं है।[2]

एक बार और अपने इस दर्शन का वर्णन करते हुए श्रीरामकृष्ण ने कहा था—"मैंने सीतामूर्ति के दर्शन किये थे। देखा, सब मन राम में ही लगा हुआ है। योनि, हाथ, पैर, कपड़े-लत्ते किसी पर भी दृष्टि नहीं है। मानो जीवन ही राममय है—राम के बिना रहे, राम को बिना पाये, जी नहीं सकती।"[3] हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि यह विवरण उपर्युक्त दर्शन से ही सम्बन्धित है, सम्भवतः नहीं है, क्योंकि पहले विवरण में जो कहा गया—'प्रसन्नदृष्टि से देखती हुई', वह मुखमण्डल का एक भिन्न ही भाव प्रकट करता है। पूर्ववर्ती तथा उसी तरह की अन्य अनुभूतियों के सम्बन्ध में सम्भवतः ध्यान देने योग्य बात यह है कि ठाकुर कभी-कभी अपने शिष्यों से कहा करते थे—इसके (उनके शरीर के) भीतर दो व्यक्ति हैं, एक है भक्त और दूसरा, भगवान्। क्या हम सीताजी के इस दर्शन के बारे में यह कह सकते हैं कि श्रीरामकृष्ण के भीतर का भक्त जब उस मूर्ति के सामने, उसे जगन्माता

२. 'लीलाप्रसंग, भाग १, द्वितीय सं., पृष्ठ २३९।
३. 'वचनामृत', भाग १, तृतीय सं., पृष्ठ ५६६।

पहचानकर, साष्टांग प्रणिपात करने ही वाला था, तब उस मूर्ति ने मानो श्रीरामकृष्ण में अपने भगवान् को, अपने स्रोत तथा जीवन के लक्ष्य को पहचान लिया और उसमें विलीन हो गयी ?

प्राय: इसी समय एक दिन वे कालीमन्दिर में बैठे हुए थे कि उन्होंने जगदम्बा को यह पूछते सुना—"क्या तू अक्षर होना चाहता है ?" उन्हें उस 'अक्षर' का तात्पर्य पता न था। उन्होंने अपने चचेरे भाई हलधारी से, जो कि राधाकान्त मन्दिर के पुजारी तथा शास्त्रज्ञ थे, जगदम्बा के इस कथन का तात्पर्य पूछा। हलधारी ने बताया—"क्षर का अर्थ है जीव और अक्षर का अर्थ है परमात्मा।"[४] माँ इस प्रश्न के द्वारा उनसे क्या पूछना चाहती थीं यह ठीक स्पष्ट नहीं होता।

हलधारी ने जिन कुछ घटनाओं में भाग लिया था, उनमें से कुछ तो दु:खद तथा कुछ विनोदात्मक हैं। कालीमूर्ति के प्रति उनके मन में दुर्भाव-सा था। एक दिन वे ठाकुर से बोले कि वह 'तामसी मूर्ति' है तथा उसका पूजन उचित नहीं। उनकी बात सुन ठाकुर अत्यन्त व्यथित हुए। उस समय तो उन्होंने कुछ न कहा, परन्तु आँखों में आँसू लिये माँ के मन्दिर में जाकर उन्होंने जगन्माता से पूछा, "माँ, हलधारी शास्त्रज्ञ विद्वान् है—वह तुझे तमोगुणमयी कहता है; क्या तू वास्तव में वैसी ही है ?" माँ के उत्तर ने उन्हें अवश्य ही सन्तुष्ट कर दिया होगा, क्योंकि हर्षातिरेक में वे मन्दिर से दौड़ते हुए निकले तथा अपने चचेरे भाई के कन्धों पर चढ़कर उत्तेजित स्वर में कहने लगे, "तू

४. वही, भाग ३, द्वितीय सं., पृष्ठ ४३७।

माँ को तामसी कहता है? क्या माँ तामसी हैं? माँ तो सब कुछ--त्रिगुणमयी और साथ ही साथ शुद्ध सत्त्वगुणमयी हैं।"[५]

पुजारी हलधारी की जिह्वा बड़ी तीक्ष्ण थी तथा धर्म के मामले में वे व्यर्थ के आडम्बरों में विश्वासी थे। एक बार उन्होंने सिद्ध कर दिखाया कि श्रीराम-कृष्ण द्वारा भावसमाधि में प्राप्त दर्शन आदि सचमुच ही मिथ्या हैं। ठाकुर इस पर एक छोटे बालक के समान उलझन में पड़ गये। बाद में उन्होंने बताया था—"तब मैं सोचने लगा कि भावावेश में जिन ईश्वरी रूपों के मुझे दर्शन मिले हैं और जो आदेश प्राप्त हुए हैं, वे क्या सभी भ्रमात्मक हैं; यदि ऐसा है तब तो माँ ने मुझे ठग लिया! मेरा मन अत्यन्त व्याकुल हो उठा और मैं क्षुब्ध होकर रोता हुआ माँ से कहने लगा—'माँ, निरक्षर मूर्ख होने के कारण क्या मुझे इस प्रकार ठगना उचित है'--उस रुदन के वेग को रोकना मेरे लिए कठिन हो गया। कोठी में बैठकर मैं रो रहा था। कुछ देर बाद मैं क्या देखता हूँ कि फर्श से एका-एक ओस की तरह धुआँ निकलने लगा और सामने के कुछ स्थल को उसने ढँक लिया। तदनन्तर उसके अन्दर वक्षःस्थलपर्यन्त लम्बी दाढ़ीयुक्त एक गौरवर्ण, सौम्य, जीवित मुखमण्डल दिखायी दिया। मेरी ओर निश्चल दृष्टि से देखते हुए उस मूर्ति ने गम्भीर स्वर

---

५. 'लीलाप्रसंग', भाग १, द्वितीय सं., पृष्ठ-२४५-४६।

से कहा—'अरे, तू भावमुखी[६] रह, भावमुखी रह, भावमुखी रह!'—इस प्रकार तीन बार इन शब्दों का उच्चारण करने के पश्चात् वह मूर्ति धीरे-धीरे पुनः उसी ओर विलीन हो गयी और ओस की तरह वह धुआँ भी अन्तर्हित हो गया।"[७] इस दर्शन की मूर्ति का उन्होंने कभी भी परिचय नहीं दिया और सम्भवतः उसकी आवश्यकता भी न थी। यह भला कौन बता सकता है कि ईश्वर किसी विशेष रूप में क्यों प्रकट होते हैं और अन्य रूपों में क्यों नहीं? इस बार भी यदि माँ का वही चिर-परिचित रूप आता, तो सम्भवतः उन्हें इस दर्शन में भी सन्देह हुआ होता।

यह दैवी आदेश उन्हें शीघ्र ही पुनः सुन पड़ा था। श्रीरामकृष्ण उस दिन मन्दिर में पूजा करने गये थे। पर यह पता नहीं कि किसी पुजारी के बदले में गये थे अथवा स्वान्तःसुखाय। वहाँ पर बैठे हुए उन्हें पुनः अपने चचेरे भाई की कोरी सैद्धान्तिक बातों को सुन दुःख हो रहा था। हलधारी ने कहा था, "ईश्वर भाव तथा अभाव दोनों से परे हैं। फिर दैवी रूप भला

६. इस शब्द की व्याख्या के लिए 'लीलाप्रसंग' (भाग २, द्वितीय सं., पृ. १ से १९) देखिए। स्वामी सारदानन्द 'भावमुख' शब्द का प्रयोग करते हैं और 'वचनामृत' में ठाकुर इसके संक्षिप्त रूप 'भाव' का। हम यहाँ पर मात्र इतना कह सकते हैं कि निरपेक्ष सत्ता की दृष्टि से हलधारी के शब्दों में जो भी सत्यता रही हो, पर यह स्पष्ट था कि ईश्वर की ऐसी इच्छा प्रतीत होती है कि ठाकुर को ब्रह्म का सगुण-साकार रूप अनुभव होता रहे।

७. वही, भाग १, द्वितीय सं., पृष्ठ २४७।

कैसे सत्य हो सकते हैं?" इस पर श्रीरामकृष्ण ने पुनः माँ से पूछा था, "माँ, तो क्या यह सब रूप आदि मिथ्या है?" इस बार वे पूजा के बरतन के निकट रती की माँ के रूप में प्रकट होकर बोलीं, "तू भाव-मुख में रह।"

'वचनामृत' में एक रती की माँ का उल्लेख है, जो वैष्णवचरण की अनुयायी तथा कलकत्ते की एक धनी महिला की सहचरी थी। उनकी ठाकुर पर बड़ी भक्ति थी तथा वे बड़े यत्न से उनकी सेवा-टहल किया करती थीं। दुर्भाग्यवश वे एक कट्टर वैष्णवी थीं। एक दिन श्रीरामकृष्ण को माँ-काली का प्रसाद खाते देख उन्होंने आना-जाना बन्द कर दिया। वे दर्शन में दिखाई पड़नेवाली रती की माँ हो सकती थीं, पर प्रतीत होता है कि वे श्रीरामकृष्ण के जीवन में कुछ बाद में आयी थीं। जो हो, यह उन अनेक लिपिबद्ध घटनाओं में से एक है, जहाँ ईश्वर उनके समक्ष किसी परिचित मानवी रूप में प्रकट हुए थे।[८]

श्रीरामकृष्ण ने बताया था—"मैंने हलधारी के पास माँ का आदेश दुहरा दिया। कभी-कभी मैं माँ का आदेश भूल जाता हूँ, इसीलिए कष्ट भोगना पड़ता है। भाव में न रहने के कारण दाँत टूट गये। अतएव 'देववाणी' या 'प्रत्यक्ष' न होने तक भाव में ही रहूँगा—भक्ति ही लेकर रहूँगा।"[९] १८८४ ई. में ठाकुर एक

---

८. 'वचनामृत', भाग १, तृ. सं., पृ. ५७१ तथा भाग २, द्वि. सं. पृ. २१९।

९. वही, भाग १, तृतीय सं., पृष्ठ २०० तथा 'लीलाप्रसंग', भाग १ द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २४८।

दुर्घटना में गिर पड़े थे, जिससे उनकी बाँह में मोच आ गयी थी। उसकी ऐसी ही व्याख्या के सन्दर्भ में हम आगे चलकर कुछ कहेंगे। आइए अब हम देखें कि उन्होंने किन परिस्थितियों में यह दैवी आदेश तीसरी और अन्तिम बार सुना था।

यहाँ पर हम एक ऐसी मूर्ति की ओर ध्यान देंगे, जिसने श्रीरामकृष्ण के दर्शनों में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी—एक तो इसलिए कि वह मूर्ति प्रायः ही प्रकट हुआ करती थी। ठाकुर ने बताया था कि एक युवक संन्यासी जो देखने में ठीक उन्हीं के जैसा था, जब-तब उनके शरीर से निकलकर उन्हें सभी विषयों में उपदेश दिया करता था। उस व्यक्ति को वे कभी तो खुली आँखों से तो कभी बन्द आँखों से भी देखा करते थे। इसका महत्त्व बताते हुए उन्होंने अपने शिष्यों से कहा था, "इस प्रकार उसके बाहर निकलने पर कभी मुझे यत्किंचित् बाह्यज्ञान बना रहता था और किसी समय बाह्यज्ञान एकदम विलुप्त होकर जड़-जैसी दशा को प्राप्त होकर मैं उसकी चेष्टाओं को देखा तथा उसकी बातों को सुना करता था। उसके मुँह से मैंने जो कुछ सुना था, ब्राह्मणी (भैरवी) तथा न्यांगटा (तोतापुरी) ने आकर पुनः मुझे उन्हीं तत्त्वों का उपदेश दिया। मुझे जो विदित हो चुका था, उन लोगों ने वही अवगत कराया। अतः मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि शास्त्रविधि की मर्यादा के रक्षण के निमित्त ही गुरु के रूप में वे मेरे जीवन में उपस्थित हुए थे। अन्यथा न्यांगटा आदि को गुरु के रूप में ग्रहण करने का और

कोई कारण नहीं दिखायी देता है।"[१०] वस्तुतः यह एक अत्यन्त सशक्त उक्ति है, जो धर्म के इतिहास में श्रीरामकृष्ण के स्थान की सूचना देती है। और यह बड़े हर्ष की बात है कि हमें उन्हीं के शब्दों में वह उपलब्ध है।

शिष्यों के आने के पश्चात् वे एक छोटे तराजू के दृष्टान्त का काफी प्रभावी ढंग से उपयोग किया करते थे। इसमें नीचे में एक छोटा काँटा तथा ऊपर में एक बड़ा काँटा रहता है, और दोनों काँटे एक सीध में आ जाने पर तौल ठीक हुआ माना जाता है। उन्होंने कहा था कि मन जो नीचेवाले काँटे के समान है, को ऊपर-वाले काँटे अर्थात् ईश्वर से विमुख नहीं होना चाहिए। कभी-कभी यह संन्यासी एक त्रिशूल लेकर उनके पास बैठा रहता था तथा उन्हें डराया करता था कि अगर नीचेवाला काँटा ऊपरवाले काँटे से कहीं इधर-उधर झुका, तो सीने में यह त्रिशूल भोंक दूँगा।"[११]

एक अन्य अवसर पर ईश्वर श्रीरामकृष्ण के समक्ष कैसे प्रकट हुए थे, इसका 'वचनामृत' में बड़ा ही मार्मिक विवरण है। वहाँ पर उनके संन्यासी-रूप[१२] का उल्लेख तो नहीं है, परन्तु चूँकि वे कहते हैं कि इस अवसर पर उन्हें यह बताया गया था कि शास्त्रों में क्या है, इससे लगता है कि यह पूर्वोक्त अवसरों में से कोई एक होगा

१०. 'लीलाप्रसंग', भाग १, द्वितीय सं., पृष्ठ २५४।

११. 'वचनामृत', भाग २, द्वितीय सं., पृष्ठ १०-११ तथा भाग ३, द्वितीय सं., पृष्ठ ९५-९६।

१२. इस दर्शन के मूल बँगला वर्णन में 'लिंग' का उल्लेख नहीं है।

अथवा उसी से निकट रूप से सम्बन्धित कोई घटना होगी। इसमें अनुभूति के वाचिक तथ्य पर जोर दिया गया है—"(ईश्वर ने) बातचीत की!—केवल दर्शन ही नहीं, बातचीत की! वट के नीचे मैंने देखा, गंगाजी के भीतर से निकलकर कितनी हँसी—कितना मजाक किया। हँसी ही हँसी में मेरी उँगली मरोड़ दी गयी! फिर बातचीत हुई। हाँ, वे बोले! तीन दिन लगातार मैं रोया, उन्होंने वेदों, पुराणों और तंत्रों में क्या है, सब दिखला दिया!"[१३]

इसी समय एक दिन उन्हें एक कमरे के भीतर एक छोटी-सी ज्योति दीख पड़ी। क्रमशः बढ़ते-बढ़ते उस ज्योति ने पूरे ब्रह्माण्ड को ढक लिया। श्रीरामकृष्ण ने समझा कि यह 'महामाया की माया' का प्रतीक है।[१४]

बाईस वर्ष के युवक गदाधर पिछले लगातार छः वर्षों से अपनी माँ तथा गाँव से दूर रह रहे थे। उस वर्ष काफी बाद में उन्होंने कामारपुकुर की यात्रा करने का निश्चय किया अथवा वे इसके लिए सहमत हुए। गाँव के लिए यह एक आनन्द का अवसर था। घर के लोगों के लिए वे वही पुराने गदाई थे। परन्तु दूसरे जगत् का बुलावा तथा उससे सम्पर्क सदा बना ही रहता था। एक दिन वे पालकी में बैठकर कामारपुकुर से छः मील दूर सिहड़ गाँव में हृदयराम के घर गये। धान के खेतों में से होकर गुजरते हुए श्रीरामकृष्ण ने अचानक अपनी खुली आँखों से अपने शरीर से दो सुन्दर किशोर बालकों को निकलते देखा। वे बालक पालकी से निकलकर खेतों की ओर चल दिये। खेल-

१३. एवं १४. वही, भाग ३, द्वितीय सं., पृष्ठ २५०।

खेल में इधर-उधर दौड़ते हुए जंगली फूलों की तलाश में कभी वे दूर निकल जाते, तो कभी अपनी गति को धीमी कर हँसते तथा बातें करते पालकी के साथ चलने लगते। काफी देर तक इसी प्रकार आनन्द करने के पश्चात् वे दोनों पुनः श्रीरामकृष्ण के ही शरीर में प्रविष्ट हो गये। परवर्ती काल में जब उनकी शास्त्रज्ञ गुरु भैरवी ब्राह्मणी दक्षिणेश्वर में आयीं तो ठाकुर के इस दर्शन का विवरण सुनकर बिना किसी विस्मय के ही तुरन्त बोलीं, "बाबा, तुमने ठीक ही देखा है; अब की बार नित्यानन्द के शरीर में श्रीचैतन्य का आविर्भाव हुआ है—श्री नित्यानन्द तथा श्रीचैतन्यदेव अब की बार एक साथ एक ही आधार में आविर्भूत हो तुम्हारे अन्दर विद्यमान हैं।" चैतन्य महाप्रभु (गौरांग या गोरा नाम से भी परिचित) १५वीं शताब्दी के बंगाल के सन्त रहें हैं, जो काफी लोगों द्वारा अवतार माने जाते हैं। नित्यानन्द उनके अन्तरंग सहचर थे। ब्राह्मणी ने अपने मत की पुष्टि के लिए शास्त्र की कुछ पंक्तियाँ भी उद्धृत की थीं—"आज भी गौरांगदेव लीलाएँ करते हैं, पर किसी-किसी अति भाग्यवान् को ही उन लीलाओं का दर्शन होता है।"[१५]

परन्तु लगता है कि स्वयं ठाकुर भी इस दर्शन के तात्पर्य के बारे में सुनिश्चित न थे। स्वामी सारदानन्द के मतानुसार, श्रीरामकृष्ण की जो धारणा बाद में प्रकट हुई थी कि 'जो राम, जो कृष्ण, वही अबकी बार इस शरीर में रामकृष्ण'—उसका सूत्रपात यहीं से हुआ था। सम्भवतः ब्राह्मणी के मत के समर्थन में ठाकुर

१५. 'लीलाप्रसंग', भाग १, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २५४-५५।

को और भी दर्शन हुए होंगे, क्योंकि स्वामी विवेकानन्द के कथनानुसार ठाकुर ने उन्हें अनेकों बार बताया था —"मैं ही अद्वैत*, चैतन्य और नित्यानन्द हूँ।"[१६]

बाह्य वस्तुओं से सम्बन्धित चामत्कारिक घटनाएँ श्रीरामकृष्ण के जीवन में सचमुच ही विरल हैं। स्वामी सारदानन्द कहा करते थे कि ठाकुर ने उन्हें एक पत्थर के एक जगह से दूसरी जगह में कूदने की बात बतायी थी। उनके उस बार के कामारपुकुर-निवासकाल में भी उसी तरह की एक अन्य घटना हुई थी। श्रीराम-कृष्ण उन दिनों रात में अकेले ही गाँव के 'भूतिर खाल' तथा 'बुधइ मोड़ल' नामक श्मशानों में जाया करते थे। जब भी वे गाँव में रहा करते, प्राचीन हिन्दू धार्मिक परम्परा के अनुसार श्मशान के उप-देवताओं तथा सियारों को प्रतिदिन भोजन देने की विधि का पालन करत। परन्तु इन भयावह स्थानों तथा समय का चुनाव उनकी अपनी पसन्द प्रतीत होती है। कहते हैं कि भोज्य वस्तुओं से भरी हुई हण्डियाँ वायु-वेग से ऊपर जाकर शून्य में विलीन हो जाया करतीं तथा कभी-कभी वे खुली आँखों से भी इन उप-देवताओं का दर्शन किया करते थे। काफी देरी हो जाने पर जब उनके अग्रज चिन्तित होकर आने लगते, तो उन्हें बुद्धिमत्तापूर्वक दूर ही रखने के लिए बालक पुकार उठता—"आया भैया! आया! आप इधर आगे न बढ़ें, नहीं तो ये (उपदेवतादि) आपको कष्ट देंगे।"[१७]

* गौरांग महाप्रभु के एक अन्य अन्तरंग।

१६. 'वचनामृत', भाग ३, द्वितीय सं., पृष्ठ ६१७।

१७. 'लीलाप्रसंग', भाग १, द्वितीय सं., पृष्ठ २६४।

सम्भवत: इसी प्रवास के दौरान श्रीरामकृष्ण को एक सम्बन्धी के मुकदमे के सिलसिले में बाँकुड़ा जाना पड़ा था। विष्णुपुर, कामारपुकुर से बीस मील दूर, बाँकुड़ा जिले का एक बड़ा तथा समृद्ध कस्बा था। यहीं पर उन्हें एक ऐसा दर्शन हुआ, जो उनके जीवन के सर्वाधिक उद्दीपक तथा महत्त्वपूर्ण दर्शनों में से एक है। इसका ठीक-ठीक मूल्यांकन करने के लिए हमें इसकी पृष्ठभूमि में विस्तारपूर्वक जाना होगा।

विष्णुपुर कस्बा अपने अनगिनत मन्दिरों तथा कई बड़े तालाबों के लिए प्रसिद्ध था। पहले वहाँ के राजागण विद्या तथा संस्कृति के बड़े कर्णधार हुआ करते थे। इसके अतिरिक्त वे बड़े धार्मिक तथा अनेक पीढ़ियों से वैष्णव मतावलम्बी होते आये हैं। परन्तु यह भी एक सर्वमान्य तथ्य रहा है कि वहाँ की 'मृण्मयी देवी' की एक प्राचीन मूर्ति में देवी काफी जाग्रत् मानी जाती थीं। विष्णुपुर पहुँचकर श्रीरामकृष्ण सदा के समान देवी के मन्दिर में जाने से पूर्व बाकी सभी मन्दिरों में गये। परन्तु माँ के मन्दिर तक पहुँचने के पूर्व ही तालाब के निकट उन्हें भावसमाधि हो गयी, जिसमें उन्हें एक देवी के मुखमण्डल का दर्शन हुआ, जिसे उन्होंने मृण्मयी का मुख समझा। 'वचनामृत' के विवरणानुसार, ठाकुर ने दिव्य मूर्ति को पानी में से निकलते देखा। परन्तु जब वे मन्दिर में पहुँचे, तो दर्शन की तुलना में मूर्ति बिल्कुल अलग ही दीख पड़ी।

पूछताछ करने पर बाद में पता चला कि राजवंश की ही किसी पागल महिला ने वंश की हालत के बिगड़ जाने पर पहली मूर्ति को खण्डित कर डाला था। कारी-

गर ने अपनी योग्यता का प्रदर्शन करने के लिए देवी का जो नवीन मुखमण्डल बनाया, वह प्राचीन से भिन्न था। पुरानी मूर्ति का टूटा हुआ सिर एक ब्राह्मण ने काफी साज-सँभाल के साथ अपने घर में रखा था। बाद में उसने उस मुण्ड को जोड़कर एक नयी मूर्ति बनवायी और लालबन्ध तालाब के निकट एक रमणीय स्थान पर उसकी स्थापना कर माँ की नित्य पूजा करने लगा।[१८] ठाकुर को तालाब के जल में महिलाओं के सिर में लगाने के प्रसाधन की गन्ध आयी। "भला ऐसा क्यों हुआ?"—बाद में उन्होंने भक्तों से पूछा था और कहा था, "तब तो मुझे मालूम भी नहीं था कि स्त्रियाँ जब मृण्मयी देवी के दर्शनों को जाती हैं तो उन्हें वह सामान चढ़ाती हैं!"[१९] संशयवादी यहाँ आसानी से कह सकते हैं कि यह सब सामग्री सामान्य उपायों के द्वारा ही तालाब में चली गयी होगी, परन्तु हमारी समझ में ठाकुर के कहने का तात्पर्य यह है कि जाग्रत् देवी ने उन प्रसाधनों को स्वीकार कर अपने स्नानादि में उपयोग किया था। 'वचनामृत' भाग ३ के पृष्ठ १९४ पर वर्णित मृण्मयी से सम्बन्धित एक अन्य घटना से इस मत को समर्थन मिलता है।

श्रीरामकृष्ण ने बाह्य प्रतिमा को दर्शन में दिखाई देनेवाली मूर्ति के अनुरूप ही देखने की जो आशा की थी, उसका क्या कारण हो सकता है? हम यहाँ पर यह प्रश्न इसलिए उठा रहे हैं कि प्रत्येक अनुभवी सन्त ऐसी आशा नहीं रखते। कुछ लोग तो इन्द्रियातीत

१८. वही, भाग २, द्वितीय सं., पृष्ठ ३८९।

१९. 'वचनामृत', भाग-१, तृतीय सं., पृष्ठ ४०७।

अनुभूति में, जो उनके कथनानुसार ईश्वर की कृपा से प्राप्त हुई है, एक अचूक दिव्यता का संस्पर्श पाकर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं; यदि दर्शन का भौतिक विवरण तत्कालीन वातावरण, इतिहास या शास्त्रीय विवरण से मेल न खाता हो, तो वे उसे स्वाभाविक तथा युक्ति-संगत ही मानेंगे। हम यह बात बहुधा अपने सपनों में देखते हैं। सपने में दिखी मूर्तियाँ काफी विकृत होने पर भी कभी-कभी हम उन्हें ठीक पहचान लेते हैं। परन्तु श्रीरामकृष्ण के बारे में वस्तुस्थिति भिन्न है। इस घटना के बारे में यह कहा जा सकता है कि चूँकि वे उस समय मृण्मयी देवी का ही दर्शन करने जा रहे थे, अतः स्वाभाविक था कि वे उक्त दर्शन को मूर्ति का ही पूर्व-दर्शन मानते। हमारे विचार में इसमें और भी कुछ तथ्य हैं। हमें लगता है कि ठाकुर की सत्य के प्रति—हर तरह के सत्य के प्रति—जो अपूर्व निष्ठा थी, उसके कारण स्वभावतः ही उन्होंने इस प्रकार के साम्य की अपेक्षा की थी। हम कितनी ही बार उनके मुख से सुन पाते हैं—'भाव के घर में चोरी न हो' (अर्थात् भीतर एक और बाहर दूसरा न हो) तथा 'शुद्ध मन में जिस भी विचार का उदय होता है, वह ईश्वर की वाणी है।' यदि हमारी मान्यता सही है, तो तात्पर्य यह होगा कि उन्हें अपने जीवन में जब भी किसी देवमूर्ति का एक विशिष्ट रूप में पूर्व-दर्शन मिला, तो उन्होंने सर्वदा ही उसे ठीक उसी रूप में देखा होगा। इस तथ्य की जाँच मनोरंजक होगी। उनके ईसा मसीह के दर्शन के बारे में हमें यह पता है कि जब एक भक्त ईसा मसीह के शारीरिक लक्षणों के बारे

में पढ़कर सुना रहा था, जिसमें उनकी नाक को निर्दोष कहकर वर्णन किया गया था (उसे काफी काल से अप्रामाणिक माना जाता है), तो श्रीरामकृष्ण बोल उठे थे, "परन्तु मैंने तो देखा उनकी नाक थोड़ी चपटी थी!" दुर्भाग्यवश 'मृण्मयी' की घटना में हमें यह नहीं मालूम कि बाद में उन्होंने पुरानी मूर्ति को देखकर उसे दर्शन में दिखे मुखमण्डल के समान बताया था अथवा नहीं।

○

भगवान् निराकार हैं, परन्तु वे साकार भी हैं। साथ ही वे इन दोनों अवस्थाओं के परे जो हैं, वह भी हैं। केवल वे ही स्वयं जानते हैं कि वे क्या क्या हैं। जो लोग उनसे प्रेम करते हैं उनके हित वे नाना प्रकार से नाना रूपों में स्वयं को व्यक्त करते हैं। निश्चय ही वे इस व्यक्तिकरण के किन्हीं रूपों की अथवा उनके प्रकार की सीमा से आबद्ध नहीं हैं।

—श्रीरामकृष्णदेव

मेरी कैलास-मानसरोवर यात्रा

स्वामी स्वरूपानन्द

(रामकृष्ण आश्रम, रामकृष्णपुरी, ग्वालियर-४७४०११, म.प्र.)

(पूर्वार्ध)

उद्दाम गति से, विभिन्न भंगिमाओं में नृत्य करती हुई कालीगंगा 'सागराभिमुखे महामिलनाभिसारे प्रवाहिता।' एक पल भी रुकने का समय नहीं है। मार्ग में हिमालय के उत्तुंग शिखर से निकलनेवाले कितने ही जलप्रपात और झरने अपनी टेढ़ी-मेढ़ी गति से बहते हुए काली गंगा को अपनी-अपनी सामर्थ्यानुसार जलराशि प्रदान कर रहे हैं। नाना प्रकार के, रंग-बिरंगे पुष्पगुच्छ सम्पूर्ण पर्वत-पथ को सुशोभित कर रहे हैं। इन सबके बीच एक यात्रीदल दुर्गम पार्वत्य पथ का अतिक्रमण करता हुआ, देवतात्मा हिमालय का रास्ता नापता हुआ, कैलास-मानसरोवर के दर्शनार्थ धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा है। मैं अपने क्षुद्र शरीर को उसी दल में सम्मिलित पा रहा हूँ।

जी हाँ, कैलास-मानसरोवर के दर्शन के लिए ! वही मानसरोवर, जो मानससर भी कहलाता है—ब्रह्मा के मन की सृष्टि ! भव्य, रजतप्रभ कैलास और गुरला मान्धाता इन दो चिरशुभ्र हिमाच्छादित शैल-शिखरोंके बीच स्थित हरित नीलाभ पन्ने की तरह शोभायमान, ब्रह्मा के मानस की तरह प्रशान्त वह पवित्रतम झील ! और इतना ही भव्य एवं दिव्य है कैलास पर्वत का दर्शन, जिससे सहज ही मन समाहित हो जाता है और इन्द्रियातीत अनुभूतियाँ उसमें उतरने लगती हैं। यह वही कैलास है, जिसके रमणीक शिखर पर हर-गौरी का संवाद होता है—'कैलास-शिखरे रम्ये गौरी पृच्छति शंकरम्' !

ऐसे कैलास-मानसरोवर की यात्रा कम से कम मेरे लिए तो एक महत् सौभाग्य की बात थी। वह मेरे जीवन का कोई विशेष पुण्य रहा होगा, जिसके फल-स्वरूप अचानक मेरी दृष्टि भारत सरकार के विदेश मंत्रालय द्वारा प्रसारित विज्ञापन पर पड़ी। उसे पढ़कर मैंने भी कैलास-मानसरोवर की यात्रा के लिए अपना आवेदन विदेश मंत्रालय को भेज दिया। मई में मुझे सूचना मिली कि मेरा चयन उस वर्ष के यात्रियों में हो गया है तथा यह भी कि मैं किस दल में सम्मिलित किया जाऊँगा यह समाचार तार द्वारा मुझे समय पर दे दिया जाएगा। जून के द्वितीय सप्ताह में मुझे तार मिला कि मैं २२ जून १९८४ को विदेश मंत्रालय में उपस्थित होऊँ। तदनुसार मैं २२ जून को प्रातः ९-३० बजे विदेश मंत्रालय के गेट क्रमांक ४ पर जा पहुँचा। देखा वहाँ और भी बहुत से लोग उपस्थित हैं, जिनका चयन यात्रा के लिए किया गया है। हम सबको डाक्टरी जाँच के लिए राममनोहर लोहिया अस्पताल ले जाया गया, जहाँ पर हर यात्री का एक्स-रे, ई.सी.जी., रक्त-चाप, वजन आदि लेकर विस्तार से स्वास्थ्य-परीक्षण किया गया। मुझे २३ जून को यात्रा के लिए योग्य घोषित किया गया। चूँकि कैलास-मानसरोवर तिब्बत में होने के कारण अभी चीनी सरकार के नियंत्रण में हैं, इसलिए भारत सरकार का विदेश मंत्रालय यात्रियों की स्वास्थ्य-परीक्षा करके आवश्यक वीसा एवं मुद्रा की व्यवस्था करता है। इन सबमें तथा आवश्यक वस्तुओं की खरीद-फरोख्त में काफी समय लग गया।

अन्त में २८ जून १९८४ को प्रातः ६.३० बजे

वह चिरप्रतीक्षित क्षण आ उपस्थित हुआ, जब मैंने अपने दल के अन्य २२ सदस्यों के साथ इस रोमांचकारी यात्रा का शुभारम्भ किया। यह यात्रा उत्तरप्रदेश के पर्यटन विभाग के कुमायूं मण्डल विकास निगम द्वारा आयोजित थी। इसने हमारी यात्रा के लिए एक विशेष बस का प्रबन्ध किया था। यात्रियों में आन्ध्र, कर्णाटक, तमिलनाडु, गुजरात, महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल, बिहार, हरियाणा एवं दिल्ली के लोग थे। मध्यप्रदेश से मैं अकेला था। हमारे दल के २३ सदस्यों में केवल एक ही महिला यात्री थी। इस यात्रा के लिए प्रत्येक यात्री ने २,७५०) जमा किये थे। इस यात्रा में लगभग एक माह का समय लगता है।

कुमायूँ मण्डल विकास निगम की ओर से नियुक्त पथ-प्रदर्शकों के द्वारा हम लोगों का हार्दिक स्वागत किया गया। तत्पश्चात् बस की यात्रा शुरू हुई और हम लोग 'चन्द्रलोक भवन' से रवाना हुए। रामपुर में चाय-नाश्ता किया, रुद्रपुर में दोपहर का भोजन लिया और गुरु नानक सागर होते हुए टनकपुर पहुँचे। यहाँ से पहाड़ी चढ़ाई का प्रारम्भ होता है। ४५२ किलोमीटर यात्रा कर हम लोग शाम को ७ बजे चम्पावत पहुँचे। वहाँ रात्रि का भोजन तथा रात्रि-वास किया। दूसरे दिन प्रातः चाय-नाश्ते के उपरान्त हम लोगों ने धारचूला के लिए प्रस्थान किया। रास्ते में गुरनादेवी का एक छोटासा मन्दिर है, जहाँ असंख्य घण्टियाँ लगी हुई हैं। लगभग सभी वाहन वहाँ रुकते हैं और देवी से आशीर्वाद ले आगे बढ़ते हैं। सफल यात्रा के लिए कुछ लोग घण्टी चढ़ाने की मनौती मानते हैं। हमारे दल के भी एक

यात्री ने यात्रा की वापसी पर एक घण्टी खरीदकर बाँधी। पिथौरागढ़ पहुँचकर सबने विश्रामगृह में दोपहर का भोजन किया। पिथौरागढ़ में स्वामी प्रणवानन्द नाम के एक वयोवृद्ध संन्यासी से हमारी भेंट करायी गयी। प्रणवानन्दजी ने २८ बार कैलास-मानसरोवर की यात्रा की है तथा काफी समय तक उस अंचल में रहे हैं। उन्होंने अँगरेजी में 'Exploration of Tibet' नामक ग्रन्थ लिखा है। विदेश मंत्रालय ने सब यात्रियों को जानकारी प्राप्त करने की दृष्टि से यह ग्रन्थ पढ़ने का सुझाव दिया था। कुछ यात्रियों ने यह पुस्तक खरीद भी ली। मैंने यह पुस्तक तथा स्वामी अपूर्वानन्द द्वारा लिखित 'कैलास-मानसरोवर यात्रा' पुस्तक पढ़ ली थी। प्रणवानन्दजी ने २-३ मानचित्रों के द्वारा हमें मार्ग के के बारे में और कुछ आवश्यक जानकारी दी। सायं ५-३० बजे हम लोग धारचूला पहुँचे। वहाँ फिर से हम सबका मेडिकल चेक-अप किया गया। यहाँ से पुल पार कर नेपाल की सीमा में बसे 'दारचुला' नामक एक छोटे से शहर में हम लोगों ने प्रवेश किया और एक घण्टे के अन्दर ही वापस भी आ गये। दूसरी रात्रि धारचूला में बितायी। तीसरे दिन आवश्यकता से अधिक सामान को धारचूला के रेस्ट हाउस में छोड़कर हम लोग सुबह ७ बजे आगे के लिए रवाना हुए और १८ किलोमीटर दूर तवाघाट पहुँचे। यहाँ पर बस की यात्रा समाप्त हुई और पैदल का मार्ग शुरू हुआ। ९ किलो-मीटर चलकर पहला पड़ाव 'पांगु कैम्प' ७,००० फुट की ऊँचाई पर था। पहाड़ की चढ़ाई खड़ी और कठिन है। यहाँ से बहुत ही सुन्दर प्राकृतिक दृश्य

दिखायी देता है। तीसरा रात्रिवास हमने पांगु कैम्प में किया। रातभर खूब वर्षा हुई। चौथे दिन प्रातः मैंने एक घोड़ा किराये पर ले लिया और ६ बजे सिरखा के लिए यात्रा प्रारम्भ हुई। रास्ते में नारायण आश्रम होकर जाना था। इससे यात्रा की दूरी लगभग ३ किलोमीटर बढ़ जाती है। स्वामी नारायणजी ने कैलास-यात्रा से वापस लौटते समय कुमायूँ क्षेत्र के दीन-हीन ग्रामवासियों के दुःख से द्रवित हो एक आश्रम की स्थापना का निश्चय किया। इसके लिए उन्होंने जमीन खरीदी और उस पर आश्रम का निर्माण किया, जिसमें ग्रामवासियों की शिक्षा एवं चिकित्सा के लिए सेवा कार्यों की व्यवस्था की। आश्रम में भगवान् विष्णु का एक सुन्दर एवं भव्य मन्दिर है। एक पुस्तकालयतथा वाचनालय भी है। बहुत सुन्दर फूल-फलों का बगीचा है। वर्तमान में स्वामी तद्रूपानन्द सरस्वती इसके महन्त हैं।

प्रथम भोटिया गाँव, जूनाटीगढ़, पांगु कैम्प से २ किलोमीटर की उतराई पर है। उसके बाद पुनः खड़ी चढ़ाई है, जिसमें से होकर २,४४० मीटर की ऊँचाई पर स्थित सौसागाँव पहुँचते हैं। पांगु से कुल ८ किलोमीटर चलकर हम लोग सिरखा पहुँचे। इसे तिथलाकोट या टियोलडुरा भी कहते हैं। यहाँ घोड़ेवाले को छोड़ दिया। यहाँ पर धर्मद्वार है, जहाँ देवी की प्रीति क लिए घण्टा चढ़ाया जाता है। रात्रि-विश्राम के पश्चात् पाँचवें दिन सिरखा से उतराई के रास्ते चलकर २ किलोमीटर दूर सिमरा गाँव पहुँचे। यहाँ से हम लोग फिर घोड़ों पर सवार हुए। ३,०४८ मीटर की ऊँचाई पर स्थित रुंगलिंग टॉप तक खड़ी चढ़ाई थी।

फिर उतराई में से होते हुए सिमखोलागढ़, गल्ला और बिन्दाकोटी पार कर २-३० बजे दिन को जिप्ती (जिब्त) पहुँचे। हम लोग कुल १६ किलोमीटर चले होंगे। जिप्ती में शाम को एक अत्यन्त ही मनोहर दृश्य दिखाई दिया। नीचे पहाड़ पर सतरंगी इन्द्रधनुष की छटा बिखरी हुई है! कुछ क्षण पश्चात् उससे २५० फुट नीचे दूसरा इन्द्रधनुष चमकने लगा। हम लोग प्रकृति की यह विचित्र लीला देख विस्मय से विमुग्ध हो गये।

छठे दिन जिप्ती से ९ किलोमीटर चलकर माल्पा पहुँचे। यहाँ सूर्य के चारों ओर गोलाकार रंगीन वलय दिखाई दिया। माल्पा से अगले दिन छः घण्टे में ८ किलोमीटर चलकर हमारा दल बुधी पहुँचा। ३,१०० मीटर की ऊँचाई पर स्थित इस स्थान के सुन्दर फूल-बगीचे मन को मोह लेते हैं। आठवें दिन बुधी से १४ किलोमीटर की चढ़ाई चलकर ३,५०० मीटर की ऊँचाई पर स्थित गुंजी कैम्प पहुँचे। रास्ते में गाबियांग गाँव देखा। वह प्राचीनकाल में बहुत ही वैभवशाली पार्वत्य नगर था। भारत, तिब्बत, चीन और नेपाल के देशों के लिए एक दूसरे के साथ व्यापार का वह प्रमुख केन्द्र था। अब गाबियांग उजाड़ होता जा रहा है, क्योंकि वह धीरे-धीरे मिट्टी के नीचे धँसता जा रहा है। कई मकान आधे गिरकर परित्यक्त हो गये हैं। फिर भी ताम्र और काष्ठ आदि के सुन्दर हस्तशिल्प आज भी अनायास ही दृष्टि को आकर्षित करते हैं। लम्बे-लम्बे वृक्षों को बीच-बीच में थोड़ा-थोड़ा काटकर, सीढ़ीनुमा बनाकर, उसी से ऊपर के घरों में आना-जाना किया जाता है।

यहाँ पर एक लोककथा प्रचलित है कि किसी समय यहाँ एक विशालकाय पहाड़ी नदी ने बाढ़ से तबाही मचा रखी थी। तब एक सन्त ने उसे अपनी मुट्ठी में बन्द कर लिया। इस पर नदी ने सन्त से बड़ी मिन्नतें कीं। सन्त का हृदय पिघल गया। उन्होंने नदी को मुक्त तो कर दिया, पर इस शर्त पर कि वह सूत के समान पतली होकर बहेगी। तब से वह नदी क्षीणकाय हो गयी और धागे के समान पतली होकर पर्वत के अन्दर रिसती रहती है। इससे मिट्टी नरम होकर इस प्राचीन केन्द्र को ध्वस्त कर दे रही है।

नवें दिन गुँजी से ८ किलोमीटर की उतराई पर आगे बढ़े और २०० मीटर नीचे कालापानी पहुँचे। पाइन के वृक्षों की सुरम्य घाटी मिली। लकड़ी का पुल पार करने पर एक झरना दिखा। इसे कालापानी कहते हैं। इसके जल से निकली है कालीनदी। पास ही गरम पानी का एक कुण्ड है। इसका सम्बन्ध बदरीनाथ के नारदकुण्ड से माना जाता है। दो दो गरम जलधाराएँ पत्थर के नीचे से आकर कालीनदी में मिलती हैं। पहाड़ी लोग आजकल उसे ही मानसरोवर मानते हैं, क्योंकि चीन की सीमा में वे आसानी से नहीं जा सकते। भारत की अन्तिम जाँच-चौकी कालापानी में ही है। यहाँ कागज-पत्रों पर मुहर लगाने और दस्तखत करने का काम हुआ।

कालापानी में रात्रि-विश्राम के बाद दसवें दिन ७ जुलाई को सुबह शांगचिम (संचुम) या नाविधांग के लिए रवाना हुए तथा ९-४५ बजे १४,००० फुट की ऊँचाई

पर बने निर्दिष्ट कैम्प पर पहुँच गये। रास्ता ७ किलोमीटर की खड़ी चढ़ाई का है। फूलों की रमणीक घाटी में से होकर जाना पड़ता है। भाँति-भाँति के पुष्प खिले हुए थे, जिनका सौन्दर्य अछूता है--नाम की संज्ञा से भी अछूता। और फिर गन्ध भी अनाम! इन फूलों को छूने की मनाही है। वहाँ दोपहर का भोजन और विश्राम किया। थोड़ी देर बाद कैम्प के प्रबन्धक महोदय ने बताया कि आप सब लोग पहाड़ के शिखर पर बर्फ से निर्मित ॐ के दर्शन कर लें। बाहर निकलकर देखा तो सचमुच पर्वत की चोटी पर हिम-निर्मित प्रणव के दर्शन हुए। हम लोग हिमालय की गोद में कभी लेटकर तो कभी बैठकर उस अपूर्व दृश्यावली का मुग्ध भाव से अवलोकन करते हुए रोमांचित होने लगे तथा करुणामय की वैचित्र्यबहुल सृष्टि को देख आनन्द से विभोर हो उठे। नादब्रह्म को इस प्रकार चर्मचक्षुओं से देखना एक अविस्मरणीय अनुभव था। यह ओंकार योगिराज हिमालय की भावसमाधि का मानो बहिःप्रकाश था। यह हिमालय भी खूब है। उस क्षण वह मुझे उस ध्यानमग्न विराट् पुरुष के मेरुदण्ड-जैसा लगा, जिसकी भव्यता की प्रतीति वहाँ कण-कण में व्याप्त स्तब्ध रमणीयता से रह-रहकर होती रहती है। सृष्टि के पहले भी ॐ था और सृष्टि के बाद भी ॐ ही व्याप्त है। यह अनहद (अनाहत) नाद है। इसके अंगभूत अ, उ, और म् वर्ण आदि, मध्य और अन्त के प्रतीक हैं। हिम वर्णी ॐ का यह दर्शन मानो अनहद की धुन से सीधा साक्षात्कार ही तो था।

नो मैन्स लैण्ड में

ग्यारहवें दिन रविवार, ८ जुलाई को सुबह ६ बजे यहाँ से रवाना होकर लगभग ९-३० बजे 'लपुलेख (लिपु-लेह) पास' पहुँचे। यह ७ किलोमीटर की सीधी चढ़ाई है। यहाँ 'नो मैन्स लैण्ड' है। यहाँ पर चीनी अधि-कारी उपस्थित थे तथा आगे की यात्रा चीन सरकार की देखरेख में होनी थी। दूसरी तरफ से पहला दल जब तक वापस न आ जाए, तब तक हम आगे नहीं जा सकते थे। वहाँ की व्यवस्था के अनुसार पहले चीनी अधिकारी प्रथम यात्रीदल को भारत की सीमा पर वापस छोड़ते और तब उसके बाद हमारे दल के यात्रियों की गिनती कर उन्हें आगे ताकलाकोट ले जाते। इस क्रम से वर्ष में कुल आठ यात्रीदलों की कैलास-मानसरोवर यात्रा की व्यवस्था है, जिनमें सब मिलाकर २०० यात्री सम्मिलित हो सकते हैं। जब हम वहाँ पहुँचे, तब हल्की वर्षा और कोहरे के कारण कुछ भी नहीं दिखाई दे रहा था। 'नो मैन्स लैण्ड' होने के कारण पहले यहाँ तम्बू नहीं लगते थे। गत वर्ष आँधी, तूफान और ओलावृष्टि के कारण मची भगदड़ से इस स्थान पर तीन यात्री लापता हो गये थे। अतः इस वर्ष यात्रियों के आश्रय लेने के लिए दो तम्बू खड़े किये गये थे। घण्टा भर बाद वायरलैस आया कि पहला यात्रीदल लिपुघाटी सीमा पर पहुँच चुका है, अतः हम आगे जा सकते हैं। घने कुहरे में हम आगे बढ़े। रास्ते में १६,५०० फुट की ऊँचाई पर प्रथम यात्रीदल के ९ लोग मिले, जिनमें २ महिलाएँ थीं। परस्पर अभिवादन हुआ। हम लोग

चढ़ रहे थे और वे लोग उतर रहे थे। इस प्रथम यात्रीदल के दो व्यक्तियों का स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण उन्हें कालापानी से ही वापस कर दिया गया था। उनसे हमारी भेंट धारचूला में हुई थी। वे दोनों मानसिक रूप से पीड़ित और व्यथित थे और अपने दुर्भाग्य के लिए डाक्टरों को कोस रहे थे। उन्होंने परम करुणामय भगवान् को भी नहीं बख्शा। सभी यात्रियों से 'इंडेमनिटी बांड' भरवाया जाता है, जिसमें यह स्पष्ट उल्लेख रहता है कि यदि मार्ग में दुर्घटनावश किसी की मृत्यु हो जाए अथवा अन्य प्रकार से कोई घायल आदि हो जाए, तो भारत सरकार किसी प्रकार का हरजाना नहीं देगी और वह कोई दावा नहीं कर सकेगा। वापस कर दिये गये वे दोनों यात्री शिकायत के स्वर में कह रहे थे कि अगर यात्रा में हमारी मृत्यु हो जाती तो हो जाती, हमें वापस क्यों भेज दिया? हम किसी हरजाने के दावेदार तो थे नहीं।

लिपुलेख १६,७५० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। यहाँ से एकदम खड़ी उतराई है। यहाँ हर साल कोई न कोई दुर्घटना हो ही जाती है। वर्षा के कारण कहीं कहीं पर चट्टानें धसक गयी थीं। लगभग १०० मीटर तक का रास्ता बर्फ से पटा हुआ था। बहुत सावधानी से लाठी के सहारे हम लोग उतर रहे थे। बर्फ पार हो जाने पर घोड़ों पर सामान लादा गया, पर हम १ किलोमीटर पैदल ही चले। इसके बाद हम लोग घोड़ों पर सवार हुए, क्योंकि पैदल चलने की अनुमति नहीं है। घोड़ेवाला घोड़े के साथ पैदल

चलता है। इनमें तिब्बती महिलाएँ भी होती हैं। दो घण्टे चलने के बाद सब लोग एक स्थान पर रोक दिये गये। वहाँ साथ में लाये गये भोजन का आनन्द लिया गया। हम सबको पहले ही तैयार लंच पैकेट दे दिये गये थे। तिब्बती घोड़ेवाले भी अपना अपना खाना खाने गोलाकार होकर बैठ गये। घोड़े-खच्चरों को खोल दिया गया। वे भी घास चरने लगे।

कुछ देर वहाँ विश्राम कर हम लोग पुनः घोड़े पर सवार हो आगे बढ़े। रास्ता एकदम सँकरा था—कहीं कहीं तो एक फुट से भी कम, मात्र ९-१० इंच चौड़ा। कुछ समय बाद हम लोग एक असमतल किन्तु प्रशस्त मैदान में आ पहुँचे। कुल ८ किलोमीटर चले होंगे कि अचानक आगे के मालवाही घोड़े जाने क्यों बिदककर इधर-उधर भागने लगे। अन्य घोड़े भी बिदकने लगे। साथ के दो यात्री घोड़ों पर से गिर पड़े। हम लोग घोड़े से उतर पड़े। घोड़ों के अचानक बिदकने के कारण का पता लगाने पर मालूम पड़ा कि पास में ही एक कसाईखाना है, जहाँ बौद्ध तांत्रिक जानवरों को मुँह और पैर बाँधकर डाल देते हैं और ये जानवर भोजन आदि के अभाव में धीरे धीरे तड़प-तड़पकर मर जाते हैं। बौद्ध धर्म में आस्था रखने-वाला यह पर्वतीय तांत्रिक सम्प्रदाय अत्यन्त क्रूर और हिंसक होता है। उसमें बलिप्रथा नहीं है, क्योंकि वह अपने को बौद्ध मतावलम्बी मानता है, पर वह एक घोर तामसिक भोजन-प्रिय जाति है। पशुओं का खून नहीं निकलना चाहिए, इसलिए उनके मुँह-पैर बाँधकर रख देते हैं। जब कुछ दिन बाद पशु मर जाता है,

तब उसका मांस भूनकर खाते हैं। उस दिन कसाई-खाने में हमने देखा कि पत्थरों से घिरे हुए छोटे से आँगन में दो जानवर मुँह-पैर बँधे हुए पड़े थे। दोनों के पेट फूल हुए थे। एक में प्राण का थोड़ा चिह्न दिखाई देता था, पर दूसरा मर चुका था।

आगे बढ़ने पर ताकलाकोट का विशाल परित्यक्त किला मिला तथा धांग नाम का गाँव और नदी। हम लोग बस्ती के पास से गुजर रहे थे। बहुत से नर-नारी घर से बाहर आकर हम लोगों को देखने लगे। क्रमशः हम बस्ती के ऊपरी भाग में पहुँच गये। गाँव के आसपास हरे-भरे खेत थे। सरसों, चना, गेहूँ, धान आदि की फसलें लहरा रही थीं। चारों ओर शुष्क, हिमशून्य पहाड़ दिखाई दे रहे थे। दूर, ऊँचाई पर तुषारमण्डित पर्वत-शिखर सुदृढ़ प्राचीर के रूप में दृष्टिगोचर हो रहे थे। प्रकृति की इस मनोहारी छटा को देखते हुए हम धीरे धीरे ताकला-कोट विश्रामगृह में पहुँचे। वहाँ पर कस्टम अधिकारियों ने हमारे सामान को खोलकर जाँच-पड़ताल की, पासपोर्ट-वीसा देखा तथा हमसे 'घोषणापत्र' (Declaration Form) भरवाया। चीनी लड़कियों ने सामान कमरों में पहुँचाया। वहाँ भोजन में दो-तीन सब्जी, पावरोटी-मिठाई और भात-सूप था। चाय-सिगरेट-टॉफी भी खूब थी। कमरे आरामदेह थे। अगले दिन ९ जुलाई को यानी यात्रा के बारहवें दिन पीपुल्स बैंक में जाकर डालर के बदले 'इयेन' लिया। एक इयेन भारतीय सिक्के में ५ रु. ४० पैसे के बराबर होता है।

○ अगले अंक में सामान्य

स्वामी प्रेमानन्द : उन्हें जैसा देखा

स्वामी वीरेश्वरानन्द

(रामकृष्ण मठ-मिशन के ब्रह्मलीन अध्यक्ष स्वामी वीरेश्वरानन्दजी ने मालदा-स्थित रामकृष्ण मठ में भक्तों के समक्ष २८-११-१९७९ को अपने ये संस्मरण सुनाये थे, जो बाद में एक लेख के रूप में 'उद्‌बोधन' बँगला मासिक में प्रकाशित हुए थे। हिन्दी रूपान्तरकार हैं ब्रह्मचारी प्रज्ञाचैतन्य, जो रामकृष्ण मठ, नागपुर के अन्तेवासी हैं। —स०)

आज एक विशेष दिन है। आज भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के संन्यासी-शिष्य स्वामी प्रेमानन्द महाराज का जन्मदिन है। मैं उनके सम्बन्ध में दो-चार बातें कहूँगा।...आपमें से बहुतों ने स्वामी प्रेमानन्द या बाबूराम महाराज के बारे में 'वचनामृत', 'लीलाप्रसंग' आदि ग्रन्थों में पढ़ा होगा। मैंने जैसा उन्हें देखा, उसी विषय में कुछ कहूँगा।

सन् १९१६ में जब मैं घर से बेलुड़ मठ को आया, उस समय वे वहीं थे। उन्हें देखकर ऐसा लगा था मानों वे मठ के Guardian Angel (संरक्षक देवदूत) हैं। वे मठ के सभी कार्यों में सहयोग देते। प्रातःकाल जप-ध्यान के पश्चात् वे एक बार बगीचे में जाकर देखते कि वहाँ ठाकुर को भोग में देने लायक क्या है, और वह सब तोड़कर ले आते। फिर जब रसोई के लिए तरकारी काटी जाती, तो वे भी सबके साथ मिलकर सब्जी काटते। तदुपरान्त स्नान कर पूजाघर में जाते। पूजा के बाद भोग देते। अपराह्न में ठीक चार बजे ठाकुर को उठाते, सन्ध्या को भोग देते और फिर आरती करने जाते।

सारे दिन, और प्रायः सभी समय, ठाकुर की ही

बातें होतीं। दोपहर और रात को भोजन के बाद तथा सन्ध्या के पूर्व भी वे पश्चिम की ओर के बेंच पर बैठते तथा कभी स्वामीजी के मन्दिर के पास बिल्ववृक्ष के नीचे बैठकर ठाकुर की बातें कहते और हम सब खड़े-खड़े सुना करते। दिन भर वे इतनी बातें कहते कि रात में उन्हें नींद ही न आती। वे और महापुरुष महाराज एक ही कमरे में साथ-साथ रहा करते थे। मठ-भवन के दुमंजिले पर पश्चिम की ओर के कमरे में, पूर्व की ओर के दो दरवाजों के बीच की दीवाल के पास महापुरुष महाराज और दूसरी ओर बाबूराम महाराज रहते। महापुरुष महाराज बाबूराम महाराज से कहते, "तुम्हें नींद भी आये तो कैसे? दिन भर तो बोलते रहते हो, वायु चढ़ जाती है इसलिए नींद नहीं आती। थोड़ा कम बोला करो।" परन्तु बाबूराम महाराज नहीं मानते। वे दिन भर भक्तों की देखरेख में, विशेष रूप से उन्हें प्रसाद खिलाना लेकर, व्यस्त रहते।

एक दिन दोपहर को उन्होंने गंगा के किनारे आकर देखा कि नाव में बैठकर कई भक्त आये हुए हैं और घाट पर उतर रहे हैं। उन्होंने उनका स्वागत किया और कहा, "पहले स्नान आदि कर लो, फिर प्रसाद पाना।" यह कहकर वे रसोईघर में गये और चूल्हा जलाकर खाना पकाने लगे। यह देखकर हम सबने, जो वहाँ उपस्थित थे, उनसे जाकर रसोई का काम ले लिया और भक्तों को भोजन कराया। ऐसा प्रायः ही हुआ करता। एक दिन लगभग दो बजे दो व्यक्ति आये। बाबूराम महाराज के पास आते

ही उन्होंने उन लोगों से पूछा, "तुम लोगों का भोजन हुआ है या नहीं ?" उनके "नहीं" कहते ही वे बोले, "अच्छा, तो चलो प्रसाद पा लो।"

उन्हें साथ लेकर जब वे रसोईघर में गये तो देखा कि सबका खाना हो चुका है और प्रायः कुछ भी नहीं बचा है। बर्तन में बहुत थोड़ा सा भात, दाल और साग बचा था। वही लेकर उन्होंने उन दोनों को भोजन के लिए बैठाया और कहा, "लो, यह थोड़ा सा ही प्रसाद पा लो।" वे वही खाकर अत्यन्त तृप्त हुए थे। इसके कई वर्षों बाद वे लोग फिर बेलुड़ मठ आये और आते ही बाबूराम महाराज की खोज की। पर तब तक बाबूराम महाराज का देहान्त हो चुका था। वे बोले, "कई वर्ष पूर्व एक दिन हम लोग बहुत देरी से आये थे; उस समय उन्होंने हमें थोड़ा सा शाक और भात-दाल दिया था। वह खाने में जो तृप्ति मिली थी, वैसी जीवन में और कभी नहीं मिली।" उस थोड़ी सी खाद्य-सामग्री के साथ वास्तव में बाबूराम महाराज का स्नेह लिपटा हुआ था, इसीलिए उन्हें तृप्ति मिली थी। पता नहीं वे लोग यह बात ठीक-ठीक समझ पाये थे या नहीं। बाबूराम महाराज के जीवन में इस तरह की बहुत सी घटनाएँ देखने में आती हैं।

वे खूब सीधा-सादा जीवन बिताया करते थे। कपड़े-लत्तों का उपयोग नहीं करते थे। जाड़े के दिनों में वे एक फतुआ * पहनते और उनके शरीर पर हमेशा एक चादर रहा करती। एक बार एक भक्त ने

* एक तरह की छोटी कमीज।

उनके लिए दो-चार फतुए बनवा दिये। उन्होंने वह सब रख लिये। उसी रात स्वप्न में उन्होंने देखा कि ठाकुर आकर उन्हें एक कुरता दिखाते हुए कह रहे हैं—"तूने मेरे लिए तो यह (दीमक का खाया हुआ) कुरता रखा है और अपने लिए अच्छे कुरते रख लिये!" दूसरे दिन सुबह उठते ही बाबूराम महाराज ने मन्दिर में जाकर ठाकुर के कपड़ों को देखा। उन्हों ने पाया कि एक कुरते को दीमकों ने काटकर जाली-जैसा कर दिया था।

एक बार पूर्वी बँगाल (अब बँगलादेश) जाने क लिए तैयार होकर वे ठाकुर को प्रणाम करने ऊपर गये। उन्हें ले जाने के लिए कुछ भक्त लोग आये हुए थे। सब-कुछ ठीक-ठाक हो चुका था। यहाँ तक कि कलकत्ता तक पहुँचाने के लिए नाव भी घाट में बँधी हुई थी। मन्दिर से नीचे उतरकर वे बोले, "नहीं, जाना न होगा।" जो व्यक्ति उस समय मन्दिर में था, उसने देखा कि बाबूराम महाराज ठाकुर के साथ बातें कर रहे हैं, और उन्होंने अन्त में कहा था, "तो फिर मैं न जाऊँ?" वह व्यक्ति सिर्फ बाबूराम महाराज की ही बातें सुन सका था, ठाकुर क्या बोले यह उसे नहीं सुनायी दिया। बाबूराम महाराज जब नीचे आकर बोले, "नहीं, जाना न होगा," तब अनुमान के द्वारा समझा गया कि ठाकुर ने जाने से मना किया है। सब लोग विस्मित रह गये। सारी तैयारी हो चुकी है और वे कह रहे हैं कि नहीं जाऊँगा! आखिरकार उस दिन जाना न हुआ। बाद में समाचार मिला कि जिस स्टीमर में

उनके ग्वालन्द से ढाका जाने की बात थी, वह तूफान में पड़कर डूब गया। तब समझ में आया कि उनकी रक्षा करने के लिए ही ठाकुर ने उन्हें जाने से मना किया था।

शुरू से ही वे स्वामीजी* के प्रति खूब अनुरक्त थे, परन्तु स्वामीजी द्वारा प्रवर्तित सेवा-कार्यों में उनका ज्यादा interest (रुझान) न था। सन् १९१२-१३ में जब वे काशी गये, वहाँ स्वामीजी की पुस्तकें पढ़कर वे बहुत ही inspired (अनुप्राणित) हो गये। उसके बाद से वे बहुधा स्वामीजी के कर्मयोग की बातें किया करते, और मठ में वापस आकर वे स्वामीजी के सन्देश के प्रचार-प्रसार में लग गये। उन दिनों University (विश्वविद्यालय) तथा College (महाविद्यालय) आदि के अनेक छात्र उनके सम्पर्क में आकर संन्यासी हो गये। बाबूराम महाराज उन्हें मठ के कर्मों में खूब उत्साहित किया करते। कोई प्राकृतिक आपदा आने पर——बाढ़, दुर्भिक्ष, महामारी आदि का प्रकोप होने पर वे उन्हें उत्साह देकर राहत कार्य में भेजते और कहते, "जाओ, जाकर रिलीफ करो।"

सन् १९१४ ई. में जब वे यहाँ (मालदा) आये थे, तब उन्होंने इसी मकान में निवास किया था। उन दिनों इस भवन के पीछे एक मैदान था। अब वहाँ मकान वगैरह बन जाने के कारण मुझे वह मैदान नहीं दिखा। उसी मैदान में उत्सव हुआ था, जिसमें उन्होंने व्याख्यान दिया था। उस भाषण में उन्होंने

* स्वामी विवेकानन्द।

कहा था कि शिव-बोध से जीव-सेवा करना ही युग-धर्म है। हम लोग मन्दिर में विग्रह की इसलिए पूजा करते हैं जिससे हमारी आध्यात्मिक उन्नति हो। मानव के भीतर भी भगवान् प्रकाशित हैं, अतः हम यदि मनुष्य के भीतर उनकी पूजा करें तो हमारी और भी ज्यादा आध्यात्मिक उन्नति होगी। उन्होंने इसी दृष्टिकोण से शिव-बोध से जीव-सेवा को युग-धर्म कहा था। वास्तव में स्वामीजी भी यही चाहते थे। इस युग की यही आवश्यकता है, क्योंकि भारत की जो सर्वांगीण अवनति हुई है, अभी तक उसे दूर कर हमारे देशवासी ऊपर नहीं उठ सके हैं। ध्यान-पूर्वक देखने पर हम समझ जाएँगे कि हम कहाँ हैं।

स्वामीजी जब अमेरिका से लौटे, तो दक्षिणी भारत के कुछ लोगों ने उनसे कहा था, "स्वामीजी, आप राजनीति में भाग लेकर देश को स्वाधीन कराइए, फिर सब कुछ होगा।" तब स्वामीजी ने उन्हें उत्तर दिया था, "देश को स्वाधीन कराना तो आसान बात है। परन्तु क्या तुम लोग उस स्वाधीनता की रक्षा कर सकोगे? तुम लोगों में मनुष्य कहाँ हैं? पहले मनुष्य का निर्माण करो। मनुष्य तैयार होने पर तुम्हें स्वाधीनता भी मिलेगी और तुम उस स्वाधीनता को बनाये भी रख सकोगे। परन्तु मनुष्य-निर्माण हुए बिना कुछ भी न होगा।" वास्तव में स्वामीजी ने ८० वर्ष पूर्व देश की जो हालत बतायी थी, हमें आज भी वही हालत दिखायी दे रही है—देश में 'मनुष्य' का अभाव है। यही कारण है कि आज सर्वत्र अव्यवस्था, अराजकता व्याप्त है।

आज सचमुच ही हम एक संकटपूर्ण स्थिति से होकर गुजर रहे हैं। इसके बाद हम पर क्या बीतेगी—कहना कठिन है; क्योंकि हमारे देश में 'मनुष्य' नहीं हैं। हमारे स्कूल, कालेज और विश्वविद्यालय में मनुष्य-निर्माण की कोई व्यवस्था नहीं है। आज का विद्यार्थी वर्ग भी राजनीति में भाग ले रहा है। उनकी शिक्षा का स्तर भी गिरता जा रहा है। ऐसी परिस्थिति में 'मनुष्य' कैसे तैयार हों? धर्मभाव के द्वारा मनुष्य-निर्माण करना होगा। तभी तो स्वामीजी ने कहा था—"First deluge the land with spiritual ideas,"—पहले देश में धर्मभाव की बाढ़ ला दो।और भी कहा था—"आत्मा की ही बातें सुनाओ, भगवान् की ही बातें सुनाओ।" इसके द्वारा जो प्रेरणा आएगी, उसके फलस्वरूप हमारे देशवासी धर्मयुक्त जीवन बिताएँगे, तभी ठीक-ठीक 'मनुष्य' का निर्माण होगा और तभी भारतवर्ष की यथार्थ उन्नति होगी। सिर्फ संसद में कानून पास करके मनुष्य का निर्माण नहीं किया जा सकता। मनुष्य-निर्माण धर्म के द्वारा ही होता है। बाबूराम महाराज स्वामीजी की यही सब बातें सुनाया करते थे। वे कहा करते कि शिव-ज्ञान से जीव-सेवा ही इस युग का महान् व्रत है।

यदि देश को पुनः महान् बनाना है, तो इस सभी ओर से करना होगा। हम भारतवासियों में अधिकांश गरीब हैं, किसी तरह एक जून खाना पाते हैं। उनके अच्छे खाने-पीने की व्यवस्था करनी होगी। उनमें अधिकांश अशिक्षित हैं। शिक्षादान करना होगा। आज हम जगत् में चारों ओर विक्षोभ तथा

अशान्ति का साम्राज्य देखते हैं। इसका कारण है धर्म का अभाव। अतएव यदि हम धर्म-प्रचार न करें, धर्ममूलक शिक्षा न दें, तो देश अधःपतन की ओर और भी अग्रसर होगा। विशेषकर साधुओं की ओर लक्ष्य कर बाबूराम महाराज कहा करते थे, "तुम लोग स्वामीजी द्वारा निर्दिष्ट इस कार्य में जुट जाओ। उसके बाद तुम्हारी देखादेखी भक्त लोग भी उस कार्य में लग जाएँगे।" परन्तु स्वामीजी जानते थे कि यूरोप-अमेरिका के समान सिर्फ समाज-सेवा का उद्देश्य लेकर यह कार्य करने पर मुख्य उद्देश्य——भगवान्-लाभ——विस्मृत हो सकता है। इसीलिए स्वामीजी ने कहा कि यदि हम 'शिव-ज्ञान से जीव-सेवा' का भाव लेकर कार्यक्षेत्र में उतर सकें, तो भारतवर्ष को पुनः उन्नत कर सकेंगे।

वैष्णव-धर्म की चर्चा करते हुए एक दिन श्रीरामकृष्णदेव ने कहा था, "उस मत में सर्वदा तीन चीजों का पालन करने का प्रयास करने को कहा गया है——नाम में रुचि, जीवों पर दया और वैष्णवजन की सेवा।" इसकी व्याख्या करते समय 'सब जीवों पर दया' कहकर ही वे समाधिस्थ हो गये। कुछ क्षणों के बाद अर्धबाह्य दशा में कहने लगे, "जीव पर दया? जीव पर दया? धत् तेरे की! कीटाणुकीट होकर तू जीव पर दया करेगा? दया करनेवाला तू कौन है? नहीं, नहीं——जीव पर दया नहीं——शिव-ज्ञान से जीव की सेवा।" ठाकुर की इन बातों को सुनकर उस दिन स्वामीजी ने कहा था, "ठाकुर की बात में आज कितना अद्भुत प्रकाश

मिला।...भगवान् ने यदि कभी अवसर दिया तो आज जो सुना, उस सत्य का विश्व में सर्वत्र प्रचार करूँगा—पण्डित-मूर्ख, ब्राह्मण-चाण्डाल सभी को सुनाकर मोहित करूँगा।" ठाकुर की उस वाणी में जो गहन अर्थ निहित था, उसे अन्य कोई भी, यहाँ तक कि स्वामीजी के गुरुभ्रातागण भी नहीं समझ सके थे। परन्तु स्वामीजी समझ सके थे। बाद में स्वामीजी ने रामकृष्ण मिशन को 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' का आदर्शवाक्य दिया। सेवा-कार्य के पीछे क्या भाव हो?—शिव-ज्ञान से जीव की सेवा करना। इससे लाभ यह होगा कि हम अपने जीवन का उद्देश्य—भगवान्-लाभ—न भूलेंगे। कार्य के भीतर भी हम भगवान् को पाएँगे। जिस भगवान् का हम मन्दिर में बैठकर, गुहा-पर्वत में बैठकर ध्यान करते हैं, उन्हीं भगवान् को विराट् में विराजमान देखकर उनकी सेवा करेंगे। ठाकुर कहते थे, "जो राम दशरथ का बेटा, वही राम घट-घट में लेटा।" राम घट-घट में अर्थात् प्रत्येक जीव में हैं। इस दृष्टिकोण के साथ यदि हम सेवा करें, तो फिर हम भगवान् को न भूलेंगे, हमारा उद्देश्य विस्मृत न होगा और हमारा कर्म उपासना के रूप में परिणत हो जाएगा। पहले जो लोग भगवान्-लाभ करना चाहते थे, उन्हें कर्म त्याग देना पड़ता था। संन्यासीगण कोई कर्म न करते थे। भगवान्-लाभ के लिए वे केवल ध्यान-भजन और शास्त्र-चर्चा लेकर रहते थे। बहुत हुआ तो लोगों को शास्त्रों के उपदेश सुनाते थे। परन्तु वे किसी अन्य Social Work (सामाजिक कार्य) में नहीं

फँसते थे। उनका तर्क यह था कि ईश्वरोपलब्धि के लिए मन को स्थिर करना होगा, ऐसी चेष्टा करनी होगी जिससे उसमें किसी प्रकार की विजातीय चित्तवृत्ति न रहे और ईश्वर का स्मरण तैलधारावत् होता रहे, अर्थात् जिस प्रकार एक पात्र से दूसरे में तेल ढालते समय तेल अविच्छिन्न रूप से गिरता है, उसी प्रकार प्रभु का स्मरण भी अविच्छिन्न रूप से हो, अथवा जैसे वायुरहित स्थान पर दीपशिखा निष्कम्प जलती है, ठीक वैसे ही मन ईश्वर में पूर्णतया स्थिर रहे। तभी ईश्वर के दर्शन होते हैं। ऐसी दशा में कर्म करना नहीं चलता, क्योंकि कर्म हमें बहिर्मुखी बना देता है और बहिर्मुखी होने पर ध्यान टूट जाता है। इसलिए उनका कहना था कि कर्म उचित नहीं, उसका त्याग करो। स्वामीजी ने आकर कहा—"नहीं, नहीं, यह कैसी बात है! कर्मत्याग क्यों करोगे? कर्म करो, परन्तु इस दृष्टि से करो कि भगवान् प्रत्येक व्यक्ति के भीतर हैं; तुम उन्हीं को देखकर सेवा करना। ऐसा करने पर तुम भगवान् को न भूलोगे। जिन भगवान् का चिन्तन तुम ध्यान में करते हो, उन्हीं भगवान् को सेवा में भी पाओगे।" शिव-ज्ञान से जीव-सेवा करते हुए तुम सारे समय भगवान् का ही चिन्तन करोगे और इससे तुम्हारा कर्म उपासना बन जाएगा। इस प्रकार तुम्हारा आदर्श ठीक रहेगा, तुम्हारा ध्यान भी ठीक होगा और जगत् का कल्याण भी होगा। इस दृष्टिकोण से सेवा करने पर किसी प्रकार की असुविधा न होगी और धर्मजीवन में भी कोई व्यवधान न होगा। यह मानो दुधारी छुरी

है—दोनों तरफ काटती है। एक ओर हमारा कर्म-बन्धन काटती है तो दूसरी ओर लोककल्याण साधित करती है। इस भाव से कार्य करने पर व्यक्तिगत उन्नति के साथ ही समाज और राष्ट्र की भी उन्नति होगी। अशिक्षित लोगों को हम शिक्षादान कर सकते हैं; जिन्हें खाने को नहीं जुटता, उनके लिए हम थोड़ा बेहतर खाने की व्यवस्था कर सकते हैं; बीमारों के लिए चिकित्सा आदि का प्रबन्ध कर सकते हैं तथा जो लोग धर्म के विषय में अज्ञ हैं, उन्हें आध्यात्मिक ज्ञान का दान कर सकते हैं।

हमारा मुख्य उद्देश्य है भगवत्प्राप्ति। यह कैसे सधे?—मूर्तिपूजा के बदले मनुष्य के भीतर जो भगवान् अवस्थित हैं उन्हीं की पूजा के द्वारा। मन्दिर में फूल-चन्दन तथा नाना प्रकार के भोग-राग देकर देवता की पूजा होती है। मूर्ति के भीतर प्राण-प्रतिष्ठा कर उनकी सेवा-आराधना की जाती है। परन्तु यहाँ तो यानी मनुष्य के भीतर प्राण-प्रतिष्ठा साक्षात् भगवान् के द्वारा ही की हुई है। तुम्हें सिर्फ दृष्टि-कोण बदलकर सेवा करनी होगी।...हमारा उद्देश्य समाज-सेवा नहीं है, वरन् यह भगवान्-लाभ करने की एक नवीन साधना-पद्धति है, जो स्वामीजी हमारे लिए निर्दिष्ट कर गये हैं। यह नवीन साधना सिर्फ भारतवर्ष के लिए ही नहीं है, सारे जगत् को इसकी आवश्यकता है। तभी तो स्वामीजी ने कहा था, "मैं यह एक नया आदर्श दिये जा रहा हूँ।"

१९१४ ई. में जब बाबूराम महाराज यहाँ आय थे, तो उन्होंने इसी मैदान में यही बात कही थी।

उन्होंने कहा था—"स्वामीजी जो शिव-ज्ञान से जीव-सेवा की बात कह गये हैं, यही युगधर्म है।" उस समय श्रोताओं में से एक बोल उठा था, "महाशय, हम आपसे प्रेम-भक्ति की बातें सुनना चाहते हैं। हम यहाँ सेवा-धर्म सुनने नहीं आये। हमें प्रेम-भक्ति की बातें सुनाइए।" बाबूराम महाराज ने पहले तो कोई उत्तर न दिया, परन्तु जब कई बार यही बात दुहरायी गयी, तब वे बोले, "प्रेम-भक्ति सुनने का अधिकारी है कौन यहाँ पर? कोई भी तो नहीं है!" इस पर वही व्यक्ति पुनः कह उठा, "क्या इतने श्रोताओं में एक भी नहीं है?" तब बाबूराम महाराज ने कहा—"तो फिर सुनो। एक दिन एक फेरीवाला रास्ते में 'प्रेम लो', 'प्रेम लो' की हाँक लगाते हुए चला जा रहा था। प्रेम बिक रहा है सुनकर आसपास के घर के लोग जल्दी से बाहर निकल आये और बोले—'हाँ! मैं लूँगा। बोलो, क्या कीमत है?' फेरीवाले, ने कहा, 'इसकी कीमत है सिर—है कोई अपना सिर देनेवाला?' यह सुनते ही सब धीरे-धीरे खिसक गये।" यह कहानी बताने के बाद बाबूराम महाराज बोले, "सिर देने का अर्थ है—अपना अहंकार-अभिमान त्याग देना। तब तुम्हारा देहाभिमान चला जायगा। 'मैं' और 'मेरा' का बोध लुप्त हो जायगा। तभी तुम प्रेम-भक्ति की बातें सुनने के अधिकारी होगे; अन्यथा राधाकृष्णलीला, गोपीलीला सुनने का तुम्हें अधिकार नहीं है!"

उस दिन उन्होंने ये ही दो बातें कही थीं—एक तो युगधर्म, जो कि स्वामीजी का सन्देश है, और

दूसरी यह प्रेम की बात। वास्तव में हममें से कोई भी उस निष्काम प्रेम-भक्ति की धारणा नहीं कर सकता। राधा की जो प्रेम-भक्ति है, उसकी तो हम कल्पना तक नहीं कर सकते। इसीलिए बाबूराम महाराज ने कहा था कि जब तक हममें देह-बोध है, तब तक हममें राधा-प्रेम को सुनने और समझने की क्षमता नहीं है। बाबूराम महाराज ने उस दिन जो दो बातें कही थीं, उन्हीं के साथ मैं आज का अपना व्याख्यान समाप्त करता हूँ। उनसे मेरी यही प्रार्थना है कि वे हमें इस सेवा-धर्म को अपने जीवन में रूपायित कर सकने का आशीर्वाद दें।

○

"तुम्हें भी ऋषि-मुनि बनना होगा, कृतकार्य होने का यही गूढ़ रहस्य है। अल्पाधिक परिमाण में सबको ही ऋषि होना होगा। ऋषि का अर्थ है पवित्र आत्मा। पहले पवित्र होओ, तभी तुम शक्ति प.ओगे। 'मैं ऋषि हूँ,' कहने ही से न होग., किन्तु जब तुम यथार्थ ऋषित्व लाभ करोगे, तो देखोगे, दूसरे आप ही आप तुम्हारी आज्ञा मानते हैं।"

—स्वामी विवेकानन्द

यज्ञों के प्रकार

ताध्या (गीय ४, श्लोक २५-३०)

स्वामी *आत्मानन्द*

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

२४वें श्लोक में कर्मयोगी के द्वारा किये जाने वाले ज्ञानयज्ञ का वर्णन किया गया। अब यह बताते हैं कि यज्ञ के कई प्रकार हैं। मनुष्यों की रुचि अलग-अलग होती है—'भिन्नरुचिर्हि लोकाः'। इसलिए वे लोग एक ही प्रकार के यज्ञ में रस नहीं ले पाते। प्रकृति और प्रवृत्ति के अनुसार उन्होंने अलग-अलग यज्ञप्रणाली निर्मित कर ली है। वे सभी साधक ही हैं और वे सब के सब सत्य को ही चाहते हैं, पर रुचि के कारण उनके रास्ते अलग-अलग हो जाते हैं, जो अलग अलग यज्ञ के रूप में दिखायी देते हैं। भगवान् ऐसे कई यज्ञों का वर्णन करते हैं और अन्त में यह घोषणा करते हैं कि ज्ञानयज्ञ ही समस्त यज्ञों में श्रेष्ठ है।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ।।२५।।

अपरे (दूसरे) योगिनः (योगीजन) दैवं (देवताओं के पूजन रूप) यज्ञम् (यज्ञ का) एव (ही) पर्युपासते (अनुष्ठान करते हैं) अपरे (अन्य लोग) ब्रह्माग्नौ (ब्रह्मरूप अग्नि में) यज्ञेन (यज्ञ के द्वारा) एव (ही) यज्ञम् (यज्ञ को) उपजुह्वति (हवन करते हैं)।

"दूसरे योगीजन देवताओं के पूजनरूप यज्ञ का ही अनुष्ठान करते हैं। अन्य दूसरे ब्रह्मरूप अग्नि में यज्ञ के द्वारा ही यज्ञ का हवन करते हैं।"

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ।।२६।।

अन्ये (दूसरे) श्रोत्रादीनि (कर्ण-चक्षु आदि) इन्द्रियाणि (इन्द्रियों को) संयमाग्निषु (संयमरूप अग्नि में) जुह्वति (हवन करते हैं) अन्ये (दूसरे) शब्दादीन् (शब्द-स्पर्श आदि) विषयान् (विषयों को) इन्द्रियाग्निषु (इन्द्रियरूप अग्नि में) जुह्वति (हवन करते हैं)।

"अन्य (योगीजन) कर्ण-चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों को संयमरूप अग्नि में होमते हैं, (जबकि) अन्य (योगी लोग) शब्द-स्पर्श आदि विषयों का इन्द्रियरूप अग्नि में हवन करते हैं।"

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।।२७।।

अपरे (दूसरे) सर्वाणि (समस्त) इन्द्रियकर्माणि (इन्द्रियों की प्रचेष्टाओं को) च (तथा) प्राणकर्माणि (प्राणों के व्यापार को) ज्ञानदीपिते (ज्ञान के द्वारा प्रदीप्त) आत्मसंयमयोगाग्नौ (आत्म-संयमरूप योगाग्नि में) जुह्वति (होमते हैं)।

"अन्य (योगीजन) समस्त इन्द्रिय-प्रचेष्टाओं तथा प्राणों के व्यापार को ज्ञान से प्रदीप्त आत्मसंयमरूप योग की अग्नि में होमते हैं।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।२८।।

अपरे (अन्य लोग) संशितव्रताः (कठोर व्रतवाले) यतयः (यति लोग) द्रव्ययज्ञाः (द्रव्ययज्ञ के करनेवाले हैं) तपोयज्ञाः (तपरूप यज्ञ के करनेवाले हैं) तथा (तथा) योगयज्ञाः (योगरूप यज्ञ के करनेवाले हैं) च (और)। स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः (स्वाध्याय और ज्ञानरूप यज्ञ के करनेवाले हैं)।

"दूसरे कठोर व्रतवाले यतिलोगों में कोई द्रव्ययज्ञ के करने वाले, कोई तपरूप यज्ञ के करने वाले, कोई योगरूप यज्ञ के करने वाले, तो कोई स्वाध्याय और ज्ञानरूप यज्ञ के करनेवाले होते हैं।"

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ।।२९।।
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ।।३०।।

अपरे (दूसरे लोग) अपाने (अपानवायु में) प्राणं (प्राणवायु को) जुह्वति (हवन करते हैं) तथा (और) (दूसरे लोग) प्राणे (प्राणवायु में) अपानं (अपान वायु को) [जुह्वति (हवन करते हैं)] [तथा अपरे (और अन्य लोग)] प्राणापानगती (प्राण और अपान की गति को) रुद्ध्वा (रोककर) प्राणायामपरायणाः (प्राणायाम के परायण) [होते हैं]।

अपरे (अन्य) नियताहाराः (सन्तुलित आहार करनेवाले लोग) प्राणान् (प्राणों को) प्राणेषु (प्राणों में) जुह्वति (हवन करते हैं) एते (ये) सर्वे (सब लोग) अपि (भी) यज्ञविदः (यज्ञों के जाननेवाले हैं) [च (और)] यज्ञक्षपितकल्मषाः (यज्ञों से निष्पाप हुए जन हैं)।

"अन्य लोग अपानवायु में प्राणवायु का हवन करते हैं, तो कुछ दूसरे, प्राणवायु में अपानवायु का। फिर कुछ लोग प्राण और अपान की गति को रोककर प्राणायाम के परायण होते हैं।"

"फिर सन्तुलित आहार करनेवाले कुछ अन्य लोग प्राणों का प्राणों में हवन करते हैं। ये सब लोग भी यज्ञों के जाननेवाले हैं, जिनके पाप यज्ञों द्वारा नष्ट कर दिये गये हैं।"

ऊपर के इन छः श्लोकों में १४ प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया गया है। वे हैं—(१) दैवयज्ञ, (२) ब्रह्माग्नि में यज्ञ का हवनरूप यज्ञ, (३) संयमाग्नि में श्रोत्र आदि इन्द्रियों का हवनरूप यज्ञ, (४) इन्द्रियाग्नि में शब्दादि विषयों का हवनरूप यज्ञ, (५) आत्मसंयमरूप

योगाग्नि में इन्द्रियों और प्राणों की क्रियाओं का हवनरूप यज्ञ, (६) द्रव्ययज्ञ, (७) तपोयज्ञ, (८) योगयज्ञ, (९) स्वाध्याययज्ञ, (१०) ज्ञानयज्ञ, (११) अपान में प्राण का हवनरूप यज्ञ, (१२) प्राण में अपान का हवनरूप यज्ञ, (१३) प्राण और अपान की गति का रोधरूप यज्ञ तथा (१४) प्राणों का प्राणों में हवनरूप यज्ञ। इन चौदहों प्रकार के यज्ञ करनेवालों के लिए तीन विशेषण प्रयुक्त हुए हैं--(१) योगी, (२) यज्ञवित् और (३) यज्ञक्षपितकल्मष। तात्पर्य यह कि ये सब के सब योगी हैं—सत्य के अन्वेषक हैं, अपने को उस परमतत्त्व के साथ युक्त कर लेने के अभिलाषी हैं। फिर, ये यज्ञ के जानकार हैं, यज्ञ के रहस्य को समझते हैं। उनके लिए यज्ञ मात्र वही नहीं है, जिसमें लौकिक अग्नि में किसी द्रव्य को आहुति डाली जाती हो, अपितु वे तो अपनी हर साधना को यज्ञ के रूप में देखते हैं। उनके लिए यज्ञ भौतिक अर्थ में सामने न आ, आध्यात्मिक अर्थ में आता है। जैसा कि हम अपने सैंतालीसवें प्रवचन में कह चुके हैं, 'यज्ञ' शब्द 'यज्' धातु से निकला है, जिसका अर्थ होता है देवपूजा या एक साथ इकट्ठा करना अथवा दान। सामान्य अर्थ में प्रयुक्त होनेवाले 'यज्ञ' शब्द में ये तीनों बातें हुआ करती हैं। पर यज्ञ का व्यापक अर्थ है समर्पण करना। यज्ञ के माध्यम से जीवात्मा अपने को परमात्मा के प्रति समर्पित करता है। इस यज्ञ के कई रूप हो सकते हैं। यहाँ पर ऐसे चौदह रूपों का वर्णन किया गया है। सामान्य यज्ञकर्म में अग्नि की अनिवार्यता को देखते हुए इन यज्ञों में भी अग्नि की प्रतीकरूप से कल्पना की गयी है।

हम अपने दूसरे प्रवचन में कह चुके हैं कि भगवान् कृष्ण क्रान्तिकारी विचारक हैं। वे प्राचीन सत्यों को युग की आवश्यकता के अनुसार नये रूप में प्रस्तुत करते हैं। शाश्वत सिद्धान्त वैसे ही बने रहते हैं, केवल उनका रूप युग के अनुकूल बदल दिया जाता है। श्रीरामकृष्ण की उस उक्ति का यहाँ पर हम पुनः स्मरण करें, जहाँ वे कहते हैं--'बादशाही अमल का सिक्का अँगरेजी राज में नहीं चलता।' कितनी सार्थक बात है। बादशाही अमल का सिक्का भी सोने का और अँगरेजी राज का सिक्का भी सोने का। पर यदि बादशाही अमल के सिक्के को कोई अँगरेजी राज में चलाना चाहे, तो नहीं चलेगा, defunct (खोटा) साबित होगा। चलाने के लिए बादशाही अमल के सिक्के को गलाना होगा और उस पर अँगरेज राज की मुहर लगानी होगी। सिक्के का आधार सोना है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। परिवर्तन केवल मुहर में हुआ। इसी प्रकार यज्ञ का जो आधारभूत सिद्धान्त है, उसे भगवान् कृष्ण यथावत् रखकर उसका रूप बदल देते हैं। यही कारण है कि गीता में यज्ञ का वैदिक रूप तो है ही, साथ ही उसके अन्य अनेक रूप भी साधक की मानसिकता के अनुरूप प्रस्तुत किये गये हैं। यही श्रीकृष्ण की अप्रतिम प्रतिभा है। सत्य की युगानुकूल व्याख्या ही सत्य को जीवन्त बनाये रखती है।

यज्ञ के दो रूप हैं--एक सकाम तथा दूसरा निष्काम। सकाम यज्ञ कामना की पूर्ति हेतु किये जाते हैं, और जब यज्ञकर्म के पीछे फल की चाह नहीं होती, जब वह केवल ईश्वर-प्रीत्यर्थ अथवा कर्तव्य-भावना

की दृष्टि से किया जाता है, तब वह व्यक्ति की चित्त-शुद्धि का सबसे सक्षम साधन होता है। ऊपर में जिन चौदह प्रकार के यज्ञों का उल्लेख हुआ है, उन सबके उद्यापन करनेवाले लोग साधक हैं, फल के प्रति उदासीन हैं। उनके ये यज्ञकर्म निष्काम हैं, इसलिए वे 'यज्ञक्षपितकल्मष' हैं, उनके अन्तःकरण का कल्मष—पाप—इन यज्ञकर्मों द्वारा धुल गया है। इस प्रकार शुद्धचित्त होकर वे सब भी उस परमसत्य की उपलब्धि के अधिकारी हुए हैं।

इस भूमिका के साथ, हम अब इन चौदह प्रकार के यज्ञों को समझने की चेष्टा करें—

(१) दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते—दूसरे योगीजन दैवयज्ञ की ही उपासना करते हैं। ये कर्म-काण्डी हैं, पर निष्काम हैं, देवताओं की प्रसन्नता के निमित्त ही यज्ञादि का आयोजन करते हैं। ये लोग अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न देवताओं को आहुति देते रहते हैं। वेदों में इन्द्र-वरुण आदि ऐसे कई देवताओं का उल्लेख है, जिनकी प्रसन्नता के लिए यज्ञों का विधान है। ये 'दैवयज्ञ' कहलाते हैं। इन्हें वैदिक यज्ञ भी कहते हैं। ये यज्ञ द्रव्यसाध्य हैं। 'यज्ञ' शब्द से सामान्यतः इन्हीं यज्ञों को लिया जाता है। अपने लिए किसी फल की चाह न रखने के कारण ये याजक भी योगी हैं।

(२) ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनवोपजुह्वति—दूसरे लोग ब्रह्मरूपी अग्नि में यज्ञ (उपाधिरहित जीव) के द्वारा यज्ञ (उपाधिसहित जीव) का हवन करते हैं। यहाँ पर ब्रह्म को अग्नि के प्रतीक के रूप में लिया

गया है और यज्ञ को जीव का प्रतीक माना है। जीव अज्ञान की दशा में उपाधिसहित होता है—शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि उसकी उपाधियाँ होती हैं। जब वह साधना के द्वारा अपने को इन उपाधियों से वियुक्त कर लेता है, तब वह उपाधिरहित जीव कहलाता है और उस सत्यस्वरूप ब्रह्म के साथ एकीभूत हो जाता है। यहाँ पर 'यज्ञ' शब्द का दो बार उपयोग करते हुए उसके द्वारा जीव की इन दो अवस्थाओं को ही ध्वनित किया गया है। आचार्य शंकर इस पर भाष्य करते हुए कहते हैं—'आत्मनामसु यज्ञशब्दस्य पाठात् तम् आत्मानं यज्ञं परमार्थतः परम् एव ब्रह्म सन्तं बुद्धय-द्युपाधिसंयुक्तम् अध्यस्त-सर्वोपाधिधर्मकम् आहुतिरूपं **यज्ञेन एव** आत्मना एव उक्तलक्षणेन **उपजुह्वति** प्रक्षि-पन्ति। सोपाधिकस्य आत्मनो निरुपाधिकेन परब्रह्म-स्वरूपेण एव यद् दर्शनं स तस्मिन् होमः तं कुर्वन्ति ब्रह्मात्मैकत्वदर्शननिष्ठाः संन्यासिन इत्यर्थः'—अर्थात् 'आत्मा के नामों में यज्ञ शब्द का पाठ होने से आत्मा का नाम यज्ञ है, जो कि वास्तव में परब्रह्म ही है, किन्तु बुद्धि आदि उपाधियों से युक्त होने के कारण उपाधियों के धर्मों को अपने में मान रहा है। उस आहुतिरूप आत्मा का उपर्युक्त (उपाधिरहित) आत्मा द्वारा ही हवन करते हैं। तात्पर्य यह कि उपाधियुक्त आत्मा का जो उपाधिरहित परब्रह्म से साक्षात् करना है, वही उसका उसमें हवन करना है। ब्रह्म और आत्मा के एकत्वज्ञान में स्थित हुए संन्यासीजन ऐसा हवन करते हैं।' यह दूसरे प्रकार का साधक ब्रह्मयोगी है। उसकी इस साधना का सार यह है कि जीव का उपाधि-

सहित जो रूप प्राणियों की दृष्टि में भासित हो रहा है, उसमें उपाधि-अंश को निकाल देना चाहिए, तब जो निरुपाधिक जीव बचेगा, वह ब्रह्म से भिन्न न होगा। उसे ब्रह्म में ही अर्पित कर देना अर्थात् मिला देना, यही उसका होम हुआ।

प्रश्न उठता है कि २४वें श्लोक में जिस ब्रह्मयज्ञ का वर्णन हुआ है, उसमें तथा विवेच्य ब्रह्मयज्ञ में क्या अन्तर है? यदि कोई अन्तर न हो, तब तो यह पुनरुक्ति-दोष हो जाता है। फिर, भगवान् कृष्ण एक ही बात को लगातार दो श्लोकों में क्यों कहेंगे? व्याख्याकारों ने इन दोनों ब्रह्मयज्ञों में सूक्ष्म अन्तर किया है। पूर्व श्लोक में वर्णित होनेवाला ब्रह्मयज्ञ सिद्ध-अवस्था का प्रतिपादक है, जबकि प्रस्तुत प्रसंग का ब्रह्मयज्ञ साधन-अवस्था का। यह साधक वेदान्त के 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'अयमात्मा ब्रह्म' आदि महावाक्यों का चिन्तन करता है तथा 'जहदजहल्लक्षणा' के माध्यम से जीव और ईश्वर के भेद का विवेचन करता हुआ ब्रह्मरूप अग्नि में इस भेद का होम कर ब्रह्म के साथ अपने अभेदत्व की अनुभूति की चेष्टा करता है।

(३) श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति—तीसरे प्रकार का साधक संयम की अग्नि प्रज्वलित कर कान-आँख आदि ज्ञानेन्द्रियों का उसमें हवन करता है। 'संयम' शब्द का सामान्य अर्थ होता है नियमन। इस तीसरे यज्ञ का सरल अर्थ यह है कि साधक अपनी श्रोत्र-चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों का नियमन करता है। ज्ञानेन्द्रियाँ अपने विषयों की ओर जाना चाहती हैं, पर वह उन्हें संयम की अग्नि में होम करता हुआ अपने

ध्येय विषय में लगाता है। इसे वेदान्त-साधना की दृष्टि से उपरति की साधना कहा जा सकता है और पातंजल-योग-साधना की दृष्टि से प्रत्याहार की साधना। यह साधक ज्ञानेन्द्रियों में अपने विषयों की ओर जाने की जो सहज प्रवृत्ति है, उस प्रवृत्ति को भी संयम की अग्नि में जला डालना चाहता है।

कुछ लोग 'संयम' शब्द का योगशास्त्र के अनुसार विशेष अर्थ करते हैं। वहाँ धारणा, ध्यान और समाधि की त्रिपुटी को 'संयम' कहा जाता है। चित्त को किसी विशिष्ट स्थान पर १२ सेकण्ड के लिए रोक रखना 'धारणा' है। फिर, उसी स्थान पर उसे बिना किसी बाधा या विशेष के १२×१२=१४४ सेकण्ड यानी २ मिनट २४ सेकण्ड के लिए रोक रखना 'ध्यान' है। और यदि चित्तवृत्तियाँ वहीं पर तैलधारावत् अविच्छिन्न रूप से १२×१२×१२=१७२८ सेकण्ड अर्थात् २८ मिनट ४८ सेकण्ड के लिए समाहित हो गयीं, तो वह 'समाधि' है। ये तीनों यदि एक ही स्थान में साधित हों, तो उसे 'संयम' कहते हैं। उपर्युक्त साधक अपनी ज्ञानेन्द्रियों को विषयों की ओर जाने से रोककर अपनी ध्येय वस्तु या इष्टदेवता में जो केन्द्रित करता है, उससे इन्द्रियाँ अपना स्वरूप खोकर इष्ट के साथ उसी प्रकार एकरूप हो जाती हैं, जैसे हवन किया हुआ द्रव्य अग्नि में गिरकर अपना स्वरूप खो देता है। इसी सादृश्य से संयमरूप अग्नि में इन्द्रियों का हवन कहा गया है।

यहाँ पर प्रश्न पूछा जा सकता है कि यह जो 'संयमाग्निषु' कहकर बहुवचन में 'संयमाग्नि' शब्द का प्रयोग किया, उसका क्या अर्थ? इसका उत्तर दो प्रकार

से दिया जाता है। एक तो यह कि इन्द्रियाँ अनेक हैं। एक-एक इन्द्रिय का संयम करने के लिए अलग-अलग चेष्टाएँ करनी पड़ती हैं। इस दृष्टि से संयम अनेक हैं। दूसरा यह कि संयम जहाँ किया जाता है, वह देश अनेकशः वर्णित है, इसलिए भी संयम की अनेकता सिद्ध है।

(४) **शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति**—चौथे प्रकार के साधक शब्द आदि विषयों का इन्द्रिय-रूप अग्नियों में हवन करते हैं, अर्थात् इन्द्रियों से शब्दादि विषयों का ग्रहण करते हैं। पर यह तो सभी मनुष्य करते हैं। तब इसमें कौनसी विशेषता है, जो इसे यज्ञ का दर्जा दिया गया? इससे कल्मष का—पाप का नाश कैसे होगा? उत्तर में कहा जाता है कि विषयों के ग्रहण में साधक और सामान्य जन अलग-अलग दृष्टिकोण रखते हैं। सामान्य व्यक्ति का दृष्टिकोण भोग का होता है, जबकि साधक उसे यज्ञ की दृष्टि से देखने का अभ्यास करता है। वह ऐसा सोचता है कि य विषय इन्द्रियरूप अग्नि में हवन की सामग्री-जैसे हैं। और जैसे हवन की सामग्री शुद्ध-पवित्र होती है, उसी प्रकार वह भी इन्द्रियरूप अग्नि में शुद्ध विषयों की ही आहुति देने की चेष्टा करता है। अर्थात् वह शास्त्रनिषिद्ध विषयों का कभी सेवन नहीं करता, और जब भी शास्त्र-अनुमोदित विषयों का सेवन करता है, तब उनके प्रति होम-बुद्धि रखता है। यदि व्यक्ति फलाशा न रखते हुए सहज रूप से प्राप्त विषयों का सेवन करे, यदि उसकी विषयों के प्रति व्यसनरूप आसक्ति न हो, तो वह भी एक प्रकार का यज्ञ ही है।

तात्पर्य यह है कि यदि इन्द्रियों को एकबारगी विषयों से न हटाया जा सके, तो धीरे-धीरे हटाने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रयत्न का अर्थ यह कि निषिद्ध विषयों का कतई सेवन नहीं करे तथा निषिद्ध काल में अनुमोदित विषयों का भी सेवन न करे। वेदान्त-साधना की दृष्टि से इसे हम 'दम' की साधना कह सकते हैं। इसमें विषयों के प्रति होम-बुद्धि बनी रहती है, जिससे विषयों का विष धीरे-धीरे सूख जाय। इस सन्दर्भ में 'भागवत' का एक श्लोक मननीय है। आठवें योगीश्वर चमसजी राजा निमि के प्रश्न के उत्तर में, भोग-लालसायुक्त लोगों को ईश्वर की ओर प्रवृत्त करने का उपाय बताते हुए कहते हैं—

लोके व्यवायामिषमद्य सेवा
 नित्यास्तु जन्तोर्नहि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञ-
 सुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा ।। ११।५।११

—अर्थात् संसार में देखा जाता है कि स्त्री-प्रसंग, मांस और मद्य की ओर प्राणी की स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती है। उसके लिए शास्त्र के विधान की कोई आवश्यकता नहीं। ऐसी स्थिति में शास्त्र में जहाँ इनका विधान मिलता है—जैसा कि विवाह-विधि, या यज्ञों में मांस-भक्षण-विधि तथा सौत्रामणि यज्ञ में मद्यपान-विधि, वहाँ इन सब विधियों को विधायक नहीं मानना चाहिए, बल्कि उच्छृंखल प्रवृत्ति के नियन्त्रण हेतु उपाय के रूप में देखना चाहिए। वास्तव में विषय-भोग की प्रवृत्तियों की ओर से लोगों को हटाना ही श्रुति को अभीष्ट है। जैसे, विवाह-विधि से ग्रहण की हुई पत्नी के द्वारा अन्य

स्त्रियों के प्रति पत्नी-भाव का निवारण किया जाता है; यज्ञ में जो मांसभक्षण की विधि है, उसका तात्पर्य भी वृथा मांस खाने के निवारण में है। इसी प्रकार सौत्रामणि याग का सुरापान भी अन्यत्र सुरापान के निषेध में तात्पर्य रखता है। सारांश यह कि जो एकदम इन्द्रिय-निरोध में असमर्थ हैं, उन्हें कृपालु शास्त्र ने विषयों से धीरे-धीरे निवृत्त होने का उपाय बतलाया है। इसी अर्थ को पुष्ट करते हुए 'भागवत' में ही आगे चलकर भगवान् कृष्ण उद्धव से कहते हैं— ११।२१।२९-३०

ते मे मतविज्ञाय परोक्षं विषयात्मकाः ।
हिंसायां यदि रागः स्याद् यज्ञ एव न चोदना ।।
हिंसाविहारा ह्यालब्धैः पशुभिः स्वसुखेच्छया ।
यजन्ते देवता यज्ञैः पितृभूतपतीन् खलाः ।।

—'यदि हिंसा और उसके फल मांसभक्षण में राग ही हो, उसका त्याग न किया जा सकता हो, तो यज्ञ में ही करे—यह परिसंख्या विधि है, स्वाभाविक प्रवृत्ति का संकोच है, सन्ध्या-वन्दनादि के समान प्रेरक विधि नहीं है। इस प्रकार मेरे परोक्ष अभिप्राय को न जानकर विषयलोलुप पुरुष हिंसा का खिलवाड़ खेलते हैं और दुष्टतावश अपनी इन्द्रियों की तृप्ति के लिए वध किये हुए पशुओं के मांस से यज्ञ करके देवता, पितर तथा भूतपतियों के यजन का ढोंग करते हैं।'

तो, इन्द्रियरूप अग्नि में विषयों के हवन का एक तात्पर्य यह हुआ। विषयों के प्रति इन्द्रियों के खिचाव को धीरे-धीरे दूर करने की चेष्टा भी साधना का ही अंग है और इसलिए एक यज्ञ है।

कुछ लोग दूसरा तात्पर्य ऐसा करते हैं कि जैसे

आहुति-द्रव्य अग्नि में गिरकर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार इन्द्रियों में आहुतिरूप से डालकर जो पुरुष विषयों का नाश ही कर दे, अर्थात् आगे उन विषयों की कामना का प्रवाह बन्द कर दे, वही इन्द्रियों में विषयों का हवन हुआ। इन्द्रियों से विषय-ग्रहण का बड़ा दोष यही है कि उससे कामना तृप्त नहीं होती, प्रत्युत बढती ही जाती है। उस कामना के प्रवाह को आगे रोक देना ही हवन का अभिप्राय है। इससे भी धीरे-धीरे निवृत्ति ही सिद्ध होती है।

भक्तिमार्ग के व्याख्याता इस यज्ञ का यों अर्थ करते हैं कि भगवान् का प्रसाद समझकर विषयों का ग्रहण करना ही विषयों का इन्द्रियों में हवन करना है। नेत्रों से भगवान् की दिव्य मूर्ति के ही दर्शन किये जायँ, कानों से भगवत्कीर्तन ही सुना जाय, जिह्वा से भगवान् को अर्पित नाना रसोंवाले नैवेद्य का ही स्वाद लिया जाय, नाक से भगवदर्पित माल्य-पुष्प की ही गन्ध ली जाय——इस प्रकार का भगवद्भाव इन्द्रियों की विषयासक्ति को मिटाएगा। यह चौथे प्रकार का यज्ञ तीसरे प्रकार के यज्ञ की प्राप्ति के लिए साधनरूप है।

(५) **सर्वाणीन्द्रियकर्माणि....जुह्वति ज्ञानदीपिते**—— पाँचवें प्रकार के साधक समस्त इन्द्रिय-कर्मों और प्राण-कर्मों का आत्मसंयमरूप योग से उत्पन्न अग्नि में हवन करते हैं, अर्थात् अपनी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के समस्त व्यापारों को आत्मसंयम-योग की अग्नि में होमते हैं। यह आत्मसंयम इन्द्रियों का दमन नहीं है, यह ज्ञान के द्वारा उनका संयमन है। बलपूर्वक दमन और ज्ञान-पूर्वक संयमन में अन्तर है। दमन कष्टकर होता है और

उससे कुण्ठाएँ उत्पन्न होती हैं, जबकि ज्ञानपूर्वक संयमन में सहजता और स्वाभाविकता होती है। इसीलिए यहाँ पर आत्मसंयमरूप योगाग्नि का विशेषण लगाया 'ज्ञान-दीपिते' यानी ज्ञानदीप्त। अर्थात् ज्ञान ही वह ईंधन है, जो आत्मसंयमरूप योगाग्नि को प्रदीप्त करता है। इस प्रकार यह पाँचवाँ यज्ञ तीसरे और चौथे दोनों यज्ञों से श्रेष्ठ है। तीसरे यज्ञ में संयम की अग्नि में ज्ञानेन्द्रियों को होमने की बात कही गयी है। यहाँ पर अन्तर यह है कि ज्ञानेन्द्रियों के साथ कर्मेन्द्रियों के भी होमने की बात है। तात्पर्य यह कि ज्ञानेन्द्रियों के साथ कर्मे-न्द्रियों का भी नियमन करना चाहिए। कर्मेन्द्रियों से अशुभ करूँ और कहूँ कि मेरा मन अलिप्त रहता है, तो यह स्वयं को धोखा देना है। उसी प्रकार यदि कर्मेन्द्रियों पर तो नियमन करूँ और मन से भोगों का चिन्तन करूँ, तो यह भी गलत है। 'गीता' में ऐसे व्यक्ति को मिथ्याचारी कहा है। अतएव श्रेष्ठ बात है ज्ञाने-न्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ दोनों को संयम की अग्नि में जलाना।

सामान्यतः तीसरा यज्ञ गृहस्थाश्रमियों के लिए है, जहाँ मन से त्याग पर जोर दिया जाता है और पाँचवाँ यज्ञ चतुर्थ आश्रमी संन्यासियों के लिए, जिन्हें तन और मन दोनों से विषयों का त्याग करना पड़ता है। पहले की परिपाटी के अनुसार सबको चतुर्थ आश्रमी बनना पड़ता था, इसलिए यह उपदेश सबके लिए है।

(६) **द्रव्ययज्ञ**—छठे प्रकार के साधक द्रव्ययज्ञ करते हैं। जिन यज्ञों में धन-सम्पत्ति लगती है, वे द्रव्य-यज्ञ कहलाते हैं। सबसे पहले जो दैवयज्ञ कहा गया है,

उसमे यह द्रव्ययज्ञ आ जाता है क्योंकि सामान्य यज्ञ द्रव्यसाध्य ही हुआ करते हैं। अतएव व्याख्याकारों ने यहाँ पर द्रव्ययज्ञ से तीर्थाटन एवं बावली, कुआँ, तालाब, धर्मशाला आदि का निर्माण लिया है। ऐसे जनहितकर कार्यों को धर्मशास्त्रों ने 'पूर्त' कर्म कहा है। यदि सेवा के ये कार्य फलाशा छोड़कर, केवल सेवा की भावना से किये जायँ, तो ये भी यज्ञ ही हैं। श्रीरामकृष्णदेव ने इसे 'शिवभाव से जीवसेवा' का नाम दिया है।

(७) **तपोयज्ञ**—सातवें प्रकार के साधकों को तप में रुचि होती है। वे शारीरिक कठोरता का अभ्यास करते हैं, उपवास आदि रखते हैं। वे तपस्या से कोई सिद्धाई नहीं चाहते, नाम-यश की भी कामना नहीं रखते, इससे तप उनके लिए यज्ञ हो जाता है और आत्म-नियन्त्रण में सहायक होता है।

(८) **योगयज्ञ**—आठवें प्रकार के साधक योगानुष्ठान में रुचि रखते हैं, पर मेरी समझ में यह अष्टांगयोग नहीं है, क्योंकि उसके प्रत्याहार तथा संयम अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधिरूप मुख्य अंग तो तीसरे यज्ञ में आ गये। प्राणायाम की बात आगे आएगी। अतः यहाँ पर 'योग' शब्द से उसके यम-नियमरूप दो अंगों को लिया गया है ऐसा माना जा सकता है। ये साधक यम और नियम का अभ्यास करते हैं। या फिर यह वह योगरूप यज्ञ है, जिसका प्रतिपादन 'सांख्य' की भिन्नता से हुआ है।

(९) **स्वाध्याययज्ञ**—इस यज्ञ के करनेवाले साधकों को शास्त्रग्रन्थों के पठन-पाठन में रुचि होती है। पहले ऋग्वेद आदि श्रुतिग्रन्थों एवं स्मृति-पुराणों

का विधिपूर्वक अध्ययन 'स्वाध्याय' कहलाता था। आज के युग में रामकृष्ण-विवेकानन्द आदि सन्त-वाङ्मय का पठन स्वाध्याय के अन्तर्गत लिया जा सकता है।

(१०) **ज्ञानयज्ञ**—आचार्य शंकर अपने भाष्य में लिखते हैं—'ज्ञानं शास्त्रार्थपरिज्ञानं यज्ञो येषां ते ज्ञानयज्ञाः'—अर्थात् शास्त्रों का अर्थ जाननारूप ज्ञान जिनका यज्ञ है, वे ज्ञानयज्ञ करनेवाले हैं। वे शास्त्र-चर्चा में ही अनुरक्त और सदैव ब्रह्मविचार में लीन रहते हैं। वे सत्य के खोजी हैं। वे पाण्डित्य के लिए नहीं, तत्त्वजिज्ञासा से प्रेरित होकर ज्ञान-चर्चा करते हैं। यह ज्ञानयज्ञ २४वें श्लोक में वर्णित ज्ञानयज्ञ से भिन्न है।

छठे से लेकर दसवें प्रकार तक के यज्ञ करनेवालों को 'संशितव्रती यति' (यतयः संशितव्रताः) कहा। संशित का अर्थ होता है तीक्ष्ण, कठोर। अतः संशितव्रती वे हैं, जिनके व्रत-नियम अच्छी तरह तीक्ष्ण किये हुए यानी कठोर होते हैं। अर्थात् वे अपने व्रत मे दृढ़ होते हैं, अपनी धुन के पक्के होते हैं। वे 'यति' हैं—यत्नशील हैं, अपनी लगन में डूबे रहते हैं। २८वें श्लोक में प्रकारान्तर से चारों आश्रमों के संशति यज्ञों का निरूपण माना जाता है। स्वाध्याय-यज्ञ यदि ब्रह्मचर्य-आश्रम का कर्तव्य है, तो द्रव्ययज्ञ गृहस्थाश्रमी का। वैसे ही तपोयज्ञ और योगयज्ञ वानप्रस्थाश्रमी के लिए हैं, तो ज्ञानयज्ञ संन्यासा-श्रमी के लिए।

(११) **अपाने जुह्वति प्राणम्**—अब यहाँ पर अष्टांगयोग का चौथा अंग जो प्राणायाम है, उसके चार भेद बताये गये हैं। प्रत्येक को यज्ञ की संज्ञा दी

गयी है, क्योंकि इनके करनेवाले इनके माध्यम से अपने प्राण-कर्मों पर नियंत्रण प्राप्त करके अन्ततोगत्वा उस परमसत्य को ही पाना चाहते हैं। इनकी रुचि शरीर में गतिशील प्राणवायु के नियंत्रण में होती है। वैसे तो प्रत्येक प्राणी में प्राणवायु गतिशील है, पर ये साधक उस प्राणवायु को अपनी इच्छानुसार चलाना चाहते हैं। जिस उपाय से प्राणवायु नियंत्रण में आती है, उसे प्राणायाम कहते हैं।

वेदान्त की प्रणाली में प्राण के पाँच विभाग किये गय हैं—प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान। प्राण वायु वह है, जो ऊपर जाती है और नासिका के माध्यम से दिखाई देती है। अपान वह है, जो नीचे की ओर जाती है और गुदाद्वार से निकलती है। व्यान शरीर के भीतर सर्वत्र विद्यमान है और सभी दिशाओं में गतिशील है। उदान वह वायु है, जो ऊर्ध्व की ओर गमन करती है और अन्तकाल में शरीर को छोड़कर निकल जाती है। समानवायु भोजन आदि को पकाती है। पर योगशास्त्र में प्राण और अपान का अर्थ भिन्न है। वहाँ पर भीतर की वायु को बाहर निकालना 'प्राण' कहा गया है तथा बाहर की वायु को भीतर लाना 'अपान'। जब हम वायु भीतर लेते हैं, तब उसे 'पूरक' कहा जाता है। भीतर की वायु को बाहर निकालना 'रेचक' कहलाता है और साँस रोक लेना 'कुम्भक'। पूरक, रेचक और कुम्भक की तीनों क्रियाएँ मिलकर 'प्राणायाम' कहलाती हैं, जिसके चार भेदों की बात हमने ऊपर कही है।

यहाँ पर प्राणायाम का पहला प्रकार बताया गया है। साधक अपान में प्राण का हवन करता है। सामान्य

अवस्था में वायु अपान के रूप में स्वाभाविक गति से भीतर जाती रहती है और प्राण के रूप में बाहर निकलती रहती है। पर इस प्राणायाम में साधक धीरे-धीरे बाहर की वायु यथाशक्ति भीतर खींचता है, इससे पेट तन जाता है और इस प्रकार वह बलपूर्वक वायु को खींचकर उसे वहीं स्तम्भित कर लेता है। यह प्राण का अपान में हवन है। इसे 'पूरक प्राणायाम' या 'अन्तः कुम्भक' भी कहते हैं। जब तक बन पड़ा, वह यह कुम्भक साधता है और अन्त में जोरों से साँस छोड़कर फिर धीरे-धीरे वायु अपने भीतर खींचता है। यह साधक इस अन्तःकुम्भक का बारम्बार अभ्यास करता है।

(१२) **प्राणेऽपानं तथापरे**—यह प्राणायाम का दूसरा भेद है। इसमें प्राणवायु में अपानवायु का हवन किया जाता है। इसका साधक भीतर की वायु को बलपूर्वक धीरे-धीरे खाली करता है। जितना बन सका उतना खाली कर साँस को रोक लेता है। इसे 'रेचक प्राणायाम' या 'बहिःकुम्भक' भी कहते हैं। जब तक कुम्भक करना सम्भव हुआ, करता है, फिर एकदम से साँस लेकर भर लेता है, फिर धीरे-धीरे वायु का यथा-शक्ति रेचन कर कुम्भक करता है। इस साधक को इसी प्राणायाम में रुचि होती है।

(१३) **प्राणापानगती रुद्ध्वा**—यह तीसरे प्रकार का प्राणायाम है। इसमें सामान्य रूप से जो प्राण और अपान की गति हो रही है, उसे कहीं पर भी रोककर, श्वास-प्रश्वास बन्द कर, कुम्भक किया जाता है। चाहे अपान की गति हो रही हो तो बीच में ही रोककर कुम्भक कर लिया, अथवा प्राण की गति को ही बीच

में रोककर कर लिया। यह साधक इस प्रक्रिया द्वारा 'कुम्भक प्राणायाम' का लगातार अभ्यास करता है।

(१४) अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति— यह यज्ञ का चौदहवाँ प्रकार और प्राणायाम का चौथा प्रकार है, जहाँ प्राणों का प्राणों में ही हवन किया जाता है। इस प्राणायाम में पूरक-रेचक आदि कुछ नहीं किया जाता, बल्कि शरीर में स्थित पंचप्राण में से योगसाधना द्वारा किसी को पकड़कर उसे वहीं का वहीं ठहरा देते हैं और अन्य प्राणों को उसमें विलीन करते हैं। यह चौथे प्रकार का कुम्भक है। यह सबसे कठिन प्राणायाम है। ऊपर कहे गये प्राणायाम के तीन प्रकार वास्तव में इस चतुर्थ प्राणायाम को साधने के ही उपाय हैं। इससे, योगी पतंजलि के अनुसार, ज्ञानरूप प्रकाश का आवरण क्षीण हो जाता है—'ततः क्षीयते प्रकाशा-वरणम्' ('योगसूत्र', २।५२) और सत्य अपनी ज्योति से उद्भासित हो उठता है। इस कठिन प्राणायाम को साधने के लिए साधक का 'नियताहार' रहना परमाश्यक है। उसे भोजन-पान में सावधानी बरतनी चाहिए और उसका जीवन एकदम अनुशासित होना चाहिए। एक महात्मा इसे 'हिमालय की विद्या' कहा करते थे। उनका तात्पर्य यह था कि यह सब सीखना और करना निर्जन में ही हो सकता है, जहाँ बाहर के विक्षेप साधक को प्रभा-वित न करें और प्रशंसक लोग उसके नियमित-संयमित आहारादि में श्रद्धा के आधिक्य से किसी प्रकार का विपर्यय न उपस्थित करें। 'आहार' का अर्थ भोजन-पान भी हो सकता है और इन्द्रियों के द्वारा आहरित यानी ग्रहण किये जानेवाले विषय-भोग भी।

उपर्युक्त चौदहों प्रकार के साधक यज्ञवित् हैं तथा सत्य को पाने की दृष्टि से किये जाने के कारण ये यज्ञ उनके कल्मषों को, पापों को, दोषों को मिटाने में सहायक होते हैं। इसकी चर्चा हम पूर्व में कर ही चुके हैं। ○

माँ के सान्निध्य में (३)

स्वामी अरूपानन्द

(प्रस्तुत संस्मरण के लेखक ब्रह्मलीन स्वामी अरूपानन्दजी श्री माँ सारदा के शिष्य एवं सेवक थे। मूल बंगला ग्रन्थ 'श्रीश्रीमायेर कथा' से अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर में कार्यरत हैं।

—स०)

१९०७ में दुर्गापूजा के बाद मैं माँ के दर्शनों को कलकत्ता आया। माँ ने एक भक्त के पत्र के उत्तर में खबर दी थी कि वे पूजा के उपलक्ष में गिरीशबाबू के यहाँ गयी थीं तथा अब बलरामबाबू के यहाँ हैं। मैं सबेरे-सबेरे बलरामबाबू के यहाँ पहुँचा। पूजनीय बाबूराम महाराज को देख उन्हें प्रणाम करके पूछा, "माँ कहाँ हैं?" उन्होंने मस्तक पर हाथ रखकर दिखाते हुए कहा, "माँ सिर पर हैं।" मैं कुछ समय तक अकेला कमरे में बैठा रहा। फिर माँ के पास शान्तिबाबू के पुत्र भगवान के हाथ अपने आने की सूचना भिजवायी। माँ ने बुलवा भेजा। मैंने कमरे के भीतर जाकर उन्हें प्रणाम किया और बैठ गया। माँ गाँव में मलेरिया से खूब भुगतकर आयी थीं। उनका चेहरा दुर्बल और मलिन हो गया था। जयरामवाटी में जैसा देखा था, उसकी अपेक्षा वे अधिक रुग्ण लग रही थीं। माँ ने बड़ी मामी की मृत्यु की बात कही। थोड़ी देर बातचीत के बाद बोलीं, "कल शरत् चक्रवर्ती आया था। यहाँ आकर उसने मुझे गीत सुनाया। अहा, कैसे सुन्दर उसके भाव हैं, कैसे उसके गीत! तुम आये नहीं?" मैं उसी समय कलकत्ता पहूँचा हूँ, माँ यह तब तक नहीं समझ पायी थीं। थोड़ी देर बाद गौरबाबू ने आकर कहा कि

गाड़ी आ गयी है। माँ को गंगास्नान के लिए जाना था। मैं बाहर चला आया। दोपहर में वहीं प्रसाद पाया। मुझे थोड़ा बुखार हो आया था, अतः मैंने निश्चय किया कि शाम को ही बरिशाल लौट जाऊँगा। पूज्य शरत् महराज तब उसी मकान में रहते थे। उन्होंने कुनैन की कुछ गोलियाँ दीं। शाम को माँ को प्रणाम करके बोला, "माँ, मैं आज ही जाऊँगा। रात में गाड़ी है। शरीर भी ठीक नहीं है।" कलकत्ते में मेरे ठहरने की कोई व्यवस्था भी नहीं थी। माँ कहने लगीं, "अहा, आज ही चले जाओगे? आज ही आये और आज ही जाना होगा?" जाते समय माँ से बोला, "माँ, जिससे मेरा कल्याण हो वह करना।"

इसके बाद माँ के दर्शन बागबाजार में स्थित उनके नये मकान में हुए। पहले कलकत्ता आने पर माँ किराये के मकान में रहती थीं। मकान सब समय इच्छा के अनुरूप नहीं मिलता था। इसलिए माँ को अपनी इच्छानुसार आने और रहने में असुविधा होती थी। इसीलिए शरत् महाराज के कठिन प्रयास से यह मकान निर्मित हुआ। कलकत्ता पहुँचने पर बड़ी खोज-पड़ताल के बाद शाम को मैं इस मकान में पहुँचा। पहुँचकर देखता हूँ डॉक्टर कांजिलाल दालान पर बैठे अखबार पढ़क रहे हैं। माँ के सम्बन्ध में पूछने पर उन्होंने कहा, "माँ को चेचक निकली है। वे अभी तक पूर्ण स्वस्थ नहीं हुई हैं। वैसे अब अच्छी हैं। पन्द्रह दिनों बाद भेंट हो सकती है।" मैं इसके बारे में कुछ जानता नहीं था। बाद में पूजनीय शरत् महाराज से भेंट होने पर उन्होंने कहा, "तुम कल सबेरे आओ, माँ से भेंट करना और यहाँ प्रसाद पाना।"

दूसरे दिन सबेरे पहुँचकर मैंने माँ के दर्शन किये। माँ अपने हाथ तथा मुँह के चेचक के दागों को दिखाने लगीं। बीमारी की बात बताकर बोलीं, "दाग अब उतने नहीं हैं।" बाद में माँ के शरीर में चेचक के दाग बिल्कुल नहीं रहे थे।

इसी समय पूजनीय शरत् महाराज के कहने पर तथा श्री माँ के आशीर्वाद से मेरा मठ में रहना निश्चित हुआ। माँ से कहने पर वे बोलीं, "अरे, इसे साधुओं की हवा लगी है। बहुत अच्छा है, मठ में रहना। ठाकुर के प्रति भक्ति हो। मैं बहुत आशीर्वाद दे रही हूँ।"

बीच-बीच में मैं मठ से दूध लेकर उद्बोधन जाता और माँ से भेंट कर आता। एक बार कई दिनों तक न जा पाने पर माँ ने दूसरे व्यक्ति से जो दूध लकर जाते थे, कई बार पूछा था, "वह कहाँ है, बहुत दिनों से आया क्यों नहीं?"

इसके पश्चात् एक दिन दूध लेकर गया। माँ को प्रणाम करने के लिए जाते समय देखता हूँ माँ पास के कमरे में बैठी पान बना रही हैं। पास में नलिनी थी। वह भी पान बना रही थी। मेरे पहुँचने पर नलिनी उठकर चली जा रही थी। माँ ने उसे रोककर कहा, "जाओ नहीं, जाओ नहीं, वह तो बच्चा है। तुम यहीं बैठो।" और मुझसे बोली, "बैठो।" बातचीत के बीच माकू की ससुराल की बात उठी। माँ ने कहा—उन लोगों की बहुत आवभगत नहीं करने से वे लोग थोड़े में ही फुफकार उठते हैं। तुम लोग मेरे बच्चे हो। तुम लोगों को मैं जो देती हूँ, जो कहती हूँ, उसमें कोई बात नहीं होती। भूल होने

से भी तुम लोग मन में कुछ नहीं रखते। पर उन लोगों को सब बढ़िया चीजें चाहिए। सब कुछ बढ़िया न होने से, थोड़ी सी भूल-चूक होने से ही वे लोग एकदम बिगड़ जाते हैं।" मैं कुछ देर बाद बोला, "माँ, शुद्ध मन और अनुराग कैसे हो?"

माँ—होगा, होगा। अब ठाकुर के प्रति शरणागत हुए हो, सब हो जायगा। ठाकुर से प्रार्थना करना।

मैं—नहीं, यह तुम्हें ही उनसे कहना होगा।

माँ—मैं तो कहती हूँ कि ठाकुर मेरे, इसके मन को अच्छा कर दो, शुद्ध बना दो।

मैं—हाँ, तुम उनसे कहना, उससे ही मेरा होगा।

इसके कई महीने बाद मैं घाटाल के बाढ़-पीड़ितों के सेवा-कार्य से तीन दिन की छुट्टी ले जगद्धात्री पूजा के समय जयरामवाटी गया। माँ कुछ दिन पहले ही वहाँ पहुँची थीं। मेरे साथ अतुल था। उसने पहली बार माँ के दर्शन किये। हम लोग कामारपुकुर से श्री रघुवीर का प्रसाद ग्रहण करके आये थे। पहुँचते ही आशु महाराज ने कहा, "तुम लोग आये यह बहुत अच्छा किया। माँ केवल कहे जा रही हैं, 'भक्त लोग कोई आये नहीं।' चलो प्रसाद पाने बैठो।" हम लोगों ने जाकर माँ को प्रणाम किया। माँ ने पूछा, "कहाँ से आ रहे हो?" मैंने कहा, "घाटाल से।" माँ ने कहा, "बैठो, प्रसाद पाओ।" सब उस समय प्रसाद पाने के लिए बैठ ही रहे थे। माँ ने हम लोगों को भरपेट भोजन कराया।

दूसरे दिन सबेरे ८-९ बजे माँ के दालान में

तरकारी काटना हो रहा था। कुसुम आदि भक्त महिलाएँ तरकारी काट रही थीं। भानु बुआ पास में ही खड़ी थीं। घर के भीतर घुसने पर मैंने भानु बुआ को कहते सुना, "कुसुम दीदी, तुम लोग तो भरपूर हो गयी हो, इसीलिए मुँह से बात नहीं निकल रही है।" कुसुम बोली, "मैं वह सब नहीं जानती।" माँ पास से जा रही थीं, सुनकर बोलीं, "भरपूर होने से क्या होगा? भरपूर होने से तो छलकने लगेगा। असल में स्वभाव बदलना चाहिए।"

उसके दूसरे दिन हम लोगों को रवाना होना था। भोर में घर के भीतर जाकर देखता हूँ माँ गीले कपड़ों में दालान में खड़ी हुई हैं। उनके कपड़े बदलने पर उन्हें प्रणाम करके मैंने विदा ली और कहा, "फिर आऊँगा।" अतुल स्कूल के बच्चे की तरह बोला "भूलिएगा नहीं।" ○ (क्रमश:

भगवान् अपने परम आत्मीय हैं। जितनी तीव्रता से कोई साधना करता है, उतनी जल्दी वह भगवान् को पा लेता है।

—श्री सारदा